वर्ष ४७] * * * [अङ्क ५

हरे राम हरे राम राम राम हरे हरे। हरे कृष्ण हरे कृष्ण कृष्ण कृष्ण हरे हरे॥

संस्करण १,५७,०००

विषय-सूची

कल्याण, सौर ज्येष्ठ, श्रीकृष्ण-संवत् ५१९९, मई १९७३

चित्र-सूची

Free of charge] जय विराट जय जगत्पते। गौरीपति जय रमापते॥ [बिना मूल्य

आदि सम्पादक—नित्यलीलालीन श्रीहनुमानप्रसादजी पोद्दार। सम्पादक—चिम्मनलाल गोस्वामी, एम्० ए०, शास्त्री
मुद्रक-प्रकाशक—मोतीलाल जालान, गीताप्रेस, गोरखपुर
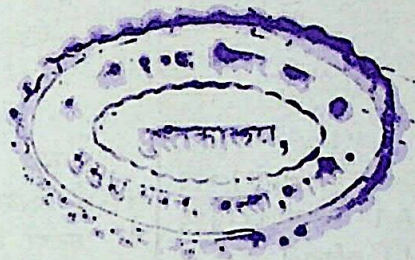
शिव-परिवारके सहित 'ॐ नमः शिवाय' मन्त्र

ॐ पूर्णमदः पूर्णमिदं पूर्णात् पूर्णमुदच्यते । पूर्णस्य पूर्णमादाय पूर्णमेवावशिष्यते ॥

कल्याण
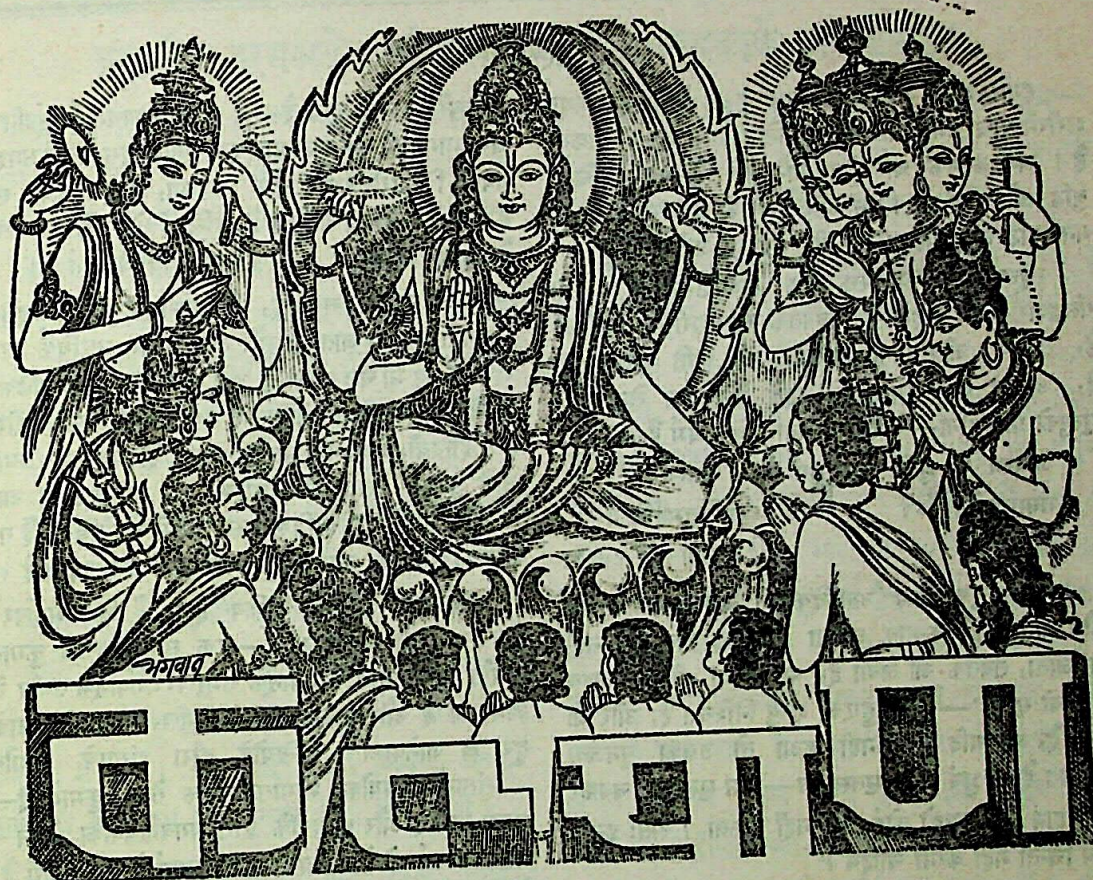
अविकाराय शुद्धाय नित्याय परमात्मने । सदैकरूपरूपाय विष्णवे सर्वजिष्णवे ॥
नमो हिरण्यगर्भाय हरये शंकराय च । वासुदेवाय ताराय सर्गस्थित्यन्तकारिणे ॥
(श्रीविष्णुपुराण १ । २ । १-२)

वर्ष ४७ } गोरखपुर, सौर ज्येष्ठ, श्रीकृष्ण-संवत् ५१९९, मई १९७३ { संख्या ५
पूर्ण संख्या ५५८

सपरिवार भगवान् शिवकी वन्दना

नमः शिवाय सोमाय सगणाय ससूनवे ।
प्रधानपुरुषेशाय सर्गस्थित्यन्तहेतवे ॥
(शिवपुराण, वायवीय संहिता, पूर्व०)

जो जगत्की सृष्टि, पालन और संहारके हेतु तथा प्रकृति और पुरुषके ईश्वर हैं, उन अपने प्रमथगण, पुत्रद्वय तथा भगवती उमाके सहित भगवान् शिवको प्रणाम है ।

कल्याण

हमारा शरीर पञ्चभूतोंसे बना हुआ है। इस स्थूल शरीरमें पाँच कर्मेन्द्रियाँ, पाँच ज्ञानेन्द्रियाँ तथा एक अन्तःकरण है। अन्तःकरणके चार भेद माने गये हैं—मन, चित्त, बुद्धि और अहंकार। मन और चित्तको एक मान लें तो मन, बुद्धि और अहंकार—ये तीन भेद रह जाते हैं।

स्थूलशरीरके अतिरिक्त एक सूक्ष्मशरीर है। उसे 'लिङ्गशरीर' भी कहते हैं। जबतक सूक्ष्मशरीरका अस्तित्व है, तबतक जीवात्माको स्थूलशरीरकी प्राप्ति होती रहती है, अर्थात् जन्म-मृत्यु होते रहते हैं। जन्म लेना और मृत्युको प्राप्त होना—ये शरीरके स्वाभाविक धर्म हैं—

जातस्य हि ध्रुवो मृत्युर्ध्रुवं जन्म मृतस्य च।
तस्मादपरिहार्येऽर्थे न त्वं शोचितुमर्हसि॥

(गीता २। २७)

जन्म-मृत्युका क्रम अनादिकालसे चला आया है और कौन जानता है, कबतक चलेगा। जबतक जीव मुक्त नहीं हो जाता, तबतक जो जन्मा है, वह मरेगा ही—'जातस्य हि ध्रुवो मृत्युः'—जन्मे हुएकी मृत्यु निश्चित है; और जो मरा है, वह यदि मुक्त नहीं हुआ तो उसका पुनर्जन्म निश्चित है—'ध्रुवं जन्म मृतस्य च—जन्म-मृत्युका चक्कर अपरिहार्य है—इसको कोई टाल नहीं सकता। अतः इनके लिये चिन्ता नहीं करनी चाहिये।

जबतक जीवका इस शरीरके साथ, जो प्रकृतिका बना है, सम्बन्ध है, जबतक जीव इसमें स्थित है, इसको 'मैं', 'मेरा' मानता है, तबतक बन्धन छूटेगा नहीं। गीतामें भगवान्ने कहा है—

पुरुषः प्रकृतिस्थो हि भुङ्क्ते प्रकृतिजान् गुणान्।
कारणं गुणसङ्गोऽस्य सदसद्योनिजन्मसु॥

(१३। २१)

'यह पुरुष जबतक प्रकृतिके साथ आबद्ध है, जबतक प्रकृतिमें स्थित है, तबतक प्रकृतिसे उत्पन्न हुए त्रिगुणात्मक पदार्थोंको भोगता है और इन गुणोंके सङ्गके कारण बार-बार अच्छी-बुरी योनियोंमें जन्म लेता है।' मृत्यु हुई, फिर जन्म; जन्म हुआ, फिर मृत्यु—बस, इस प्रकार जीव जन्म-मृत्युके बीच चक्कर काटता रहता है।

यह स्थिति है। अब विचार करना है कि करना क्या है, जिससे शरीरमें स्थित रहते हुए ही हम प्रकृतिके प्रभावसे मुक्त हो जायँ—भगवान्के धाममें चले जायँ। इस लक्ष्यको प्राप्त करनेके लिये हमारे पास साधन क्या है? शरीर है, इन्द्रियाँ हैं, मन है, बुद्धि है—ये ही हमारे साधन हैं। उपनिषद्में तथा भागवतमें एक रूपकद्वारा इस सत्यको इस प्रकार समझाया गया है कि शरीर रथ है और आत्मा, जो इस रथपर सवार है, रथी है—रथका मालिक है, इन्द्रियाँ घोड़े हैं, मन लगाम है, बुद्धि सारथि है और इन्द्रियोंके विषय मार्ग हैं।

घोड़े मार्गपर चलते हैं, घोड़े लगामके अधीन रहते हैं, रथ गतिमान् हो जाता है और लगाम जिस सारथिके हाथमें रहती है, वह भी चल पड़ता है तथा रथमें बैठा हुआ मालिक भी अपने-आप चलायमान हो जाता है। यही स्थिति हमारे शरीरकी है। इन्द्रियाँ विषयरूपी मार्गपर बढ़ती हैं, मनरूपी लगाम उन्हें काबूमें रखती है, शरीररूपी रथ गतिमान् हो जाता है और उसके साथ बुद्धिरूपी सारथि भी चल पड़ता है तथा शरीरका मालिक आत्मा भी अपने-आप चल पड़ता है।

सर्वप्रथम इन्द्रियाँ सक्रिय होती हैं विषय-मार्गपर। विषय-मार्ग दो प्रकारका है—एक सुमार्ग, दूसरा कुमार्ग, अर्थात् एक मार्ग भगवान्के सम्मुख, भगवान्के समीप ले जानेवाला है और दूसरा भगवान्से विमुख, भगवान्से हटाकर दूर ले जानेवाला। इन्द्रियोंके द्वारा संसारके भोगोंका—संसारके विषयोंका भोगासक्तिपूर्वक सेवन कुमार्ग है—उल्टा मार्ग है और इन्द्रियोंके द्वारा भगवद्विषयोंका सेवन—भगवत्प्रीत्यर्थ भोगोंका सेवन—यह सुमार्ग है, सही मार्ग है। जैसे कानके द्वारा हम पर-निन्दा सुन सकते हैं, अपनी प्रशंसा सुन सकते हैं, दूसरोंके पाप सुन सकते हैं, गंदे गाने, गंदी बातें सुन सकते हैं और उन्हीं कानोंके द्वारा हम भगवान्का गुणगान सुन सकते हैं, भगवान्का नाम सुन सकते हैं, भगवान्की लीला-कथा सुन सकते हैं, संतोंके चरित्र सुन सकते हैं, अपने दोषोंकी बात सुन सकते हैं, दूसरोंके उत्तम गुण सुन सकते हैं। इसी प्रकार अन्य इन्द्रियोंके विषयमें समझना चाहिये।

सुनना कानका काम है; पर क्या सुनना है, यह बुद्धिका काम है। देखना आँखका काम है; पर क्या देखना, यह बुद्धिका काम है। घोड़े चलेंगे रास्तेपर ही, पर किस रास्तेपर जायँगे, यह देखना सारथिका काम है। वह लगाम खींचकर जिधर घोड़ोंको ले जाय, वे उधर ही जायँगे। अतएव सर्वप्रथम हमारी बुद्धि शुद्ध होनी चाहिये, बुद्धि भगवान्की ओर लगनी चाहिये। यदि बुद्धि बिगड़ गयी, विपरीत हो गयी तो हम मारे जायँगे—'बुद्धिनाशात् प्रणश्यति।' आज अधिकांशमें यही हो रहा है और उसका भीषण परिणाम हमारे सामने है।

—'भाईजी'

ब्रह्मलीन परमश्रद्धेय श्रीजयदयालजी गोयन्दकाके अमृतोपदेश

सांसारिक कार्य रुपये कमानेके उद्देश्यसे करनेसे मन संसारमें रम जाता है। इसलिये सांसारिक कार्य रुपये कमानेके उद्देश्यसे न करके भगवत्प्रीत्यर्थ करने चाहिये। हाँ, जो भी कार्य किया जाय, वह सावधानीसे किया जाय। परंतु कार्यका बाहुल्य नहीं करना चाहिये; कार्यका बाहुल्य होनेसे उद्देश्यमें परिवर्तन हो जाता है। आरम्भमें भगवान्की प्रीतिका लक्ष्य होनेपर भी कार्यके बाहुल्यके साथ सांसारिक स्वार्थ, आसक्ति आदि आ जाते हैं।

साधकको सांसारिक वस्तुओं एवं सांसारिक पुरुषोंसे कम संसर्ग रखना चाहिये। सांसारिक विषयोंकी चर्चा भी यथासम्भव कम करनी चाहिये।

बिना पूछे किसीके अवगुण नहीं बताने चाहिये। सर्वोत्तम तो यह है कि किसीके अवगुणोंकी ओर हमारा ध्यान ही न जाय। जब हमारी दृष्टिमें किसीके अवगुण आयेंगे ही नहीं, तब हम उनकी चर्चा कैसे करेंगे।

सबके साथ निष्कामभावसे प्रेम करना चाहिये; भगवान्के नाते प्रेम करना चाहिये।

नामका जप नित्य-निरन्तर होता रहे—इसका अभ्यास करना चाहिये। नामको कभी नहीं छोड़ना चाहिये; जो नाममें बाधक हों, उन्हें ही छोड़ देना चाहिये। प्रेम एवं प्रसन्नताके साथ नाम-जप निरन्तर होता रहे—ऐसा प्रयत्न सर्वदा करते रहना चाहिये। निरन्तर नाम-जप होता रहे तो भगवान्के दर्शनकी भी परवा नहीं होनी चाहिये। नाम-जपका ऐसा तीव्र अभ्यास करना चाहिये कि अपने शरीरकी भी सुध न रहे। स्वयं भगवान् दर्शन देनेको आयें, तब उन्हें सुतीक्ष्णकी भाँति हमें भी सावधान करना पड़े।

संसारके अन्य कामोंकी तो बात ही क्या, अपने शरीर-निर्वाहकी भी चिन्ता नहीं करनी चाहिये। भगवान्की घोषणा है—'योगक्षेमं वहाम्यहम्—भक्तके योगक्षेमका मैं वहन करता हूँ।' भगवान्की घोषणापर विश्वास करके निश्चिन्त रहना चाहिये।

किसी भी मनुष्यमें अवगुण देखकर उससे घृणा या द्वेष नहीं करना चाहिये; क्योंकि किसीके प्रति घृणा या द्वेष करनेसे दोष लगता है। घृणा और द्वेष तो पापसे, अवगुणोंसे, विकारोंसे करने चाहिये। उदाहरणार्थ किसी व्यक्तिको प्लेगकी बीमारी हो जानेपर कोई भी मनुष्य उसके पास जाना नहीं चाहेगा। दूसरोंकी तो बात ही क्या, उसके माता-पिता, भाई, मित्र आदि भी उसके पास जानेमें हिचकते हैं; परंतु क्या उन सबका उस व्यक्तिके प्रति द्वेष है, घृणा है? वे वास्तवमें प्लेगसे भयभीत हैं। अतएव प्लेगसे बचनेके साधन अपनाकर उस बीमार व्यक्तिके पास जाते हैं, उसकी सेवा करते हैं, उसे अच्छा करनेका प्रयत्न करते हैं। इसी प्रकार चोरी-जारी आदि दोषोंसे भरा-पूरा कोई व्यक्ति हो तो उससे घृणा या द्वेष नहीं करना चाहिये। उसके दोष चोरी-जारी आदि हमपर प्रभाव न डाल सकें, ऐसी सावधानी रखते हुए हमें उस पाप-पङ्कमें लिप्त व्यक्तिके साथ मित्रकी भाँति प्यार करना चाहिये; उसे उन दोषोंकी बुराई समझाकर उनके त्यागके लिये राजी करना चाहिये। हमारे प्यारभरे व्यवहारसे वह निश्चितरूपसे उन दोषोंसे मुक्त हो जायगा और सात्त्विक जीवन व्यतीत करने लगेगा। अतएव पापीके साथ सहानुभूति रखनी चाहिये। यदि हम अपनेमें ऐसी योग्यता अनुभव न करें कि हम उसके दोषोंसे अपनेको बचा पायें, तब हमें चाहिये कि हम उसकी उपेक्षा कर दें; द्वेष या घृणा तो किसी भी अवस्थामें नहीं करनी चाहिये। परमात्मा उसमें भी हैं, वह भी भगवान्का है। अतएव किसीके प्रति भी द्वेष या घृणा नहीं होनी चाहिये।

गुरुजनोंकी सेवा करनेसे तथा भगवान्का भजन-ध्यान करनेसे भगवान्में प्रेम हो सकता है। जो-जो वस्तु अपनेको अच्छी लगे, उसे भगवान्के अर्पण करना चाहिये; तथा जो-जो बातें भगवान्को उत्तम लगें, उन्हें अपनेमें धारण करना चाहिये। ऐसी चेष्टा करनेसे भगवान्में अत्यन्त शीघ्र प्रेम हो सकता है। जैसी चेष्टा करनेसे भगवान् अपने बनें, वैसी ही चेष्टा करनी चाहिये। वास्तवमें तो भगवान्के प्रति प्रेम होनेकी इच्छासे ही प्रेम हो सकता है। मनमें ऐसा भाव होना चाहिये कि भगवान्के सिवा कोई भी सांसारिक पदार्थ अच्छा न लगे।

मोक्ष-प्राप्तिका अत्यन्त सरल उपाय भगवान्के शरण होना ही है। शरण कैसे हों? इसका उत्तर यह है कि पहले भगवान्के प्रभावकी बातें सुनें, उससे श्रद्धा उत्पन्न होगी; श्रद्धा उत्पन्न होनेपर प्रेम होगा और प्रेम होना ही वास्तवमें शरण होना है। भगवान्में प्रेम होनेके लिये भगवान्के भक्तोंमें, ज्ञानियोंमें, महात्माओंमें प्रेम होनेकी अत्यन्त आवश्यकता है। वस्तुतः भगवान्, भक्त, ज्ञानी एवं महात्मा—सब एक ही हैं।

अपने सात्त्विक कर्तव्यकर्मोंका त्याग नहीं करना चाहिये। चित्त भजनसे हटे ही नहीं—ऐसी वृत्ति स्वाभाविक हो जाय और कर्तव्यकर्म करनेका ज्ञान ही न रहे, तब बात दूसरी है। किंतु कर्तव्यकर्मोंमें—सेवामें दुःख समझकर, झंझट समझकर भजनके नामपर जो लोग उनका त्याग कर देते हैं, वे आगे चलकर प्रमादी बन जाते हैं। जो थोड़ी देर भजन करके शेष समयमें लोकसेवाका काम करते हैं, उनके द्वारा की हुई सेवा बहुमूल्य होती है; क्योंकि बिना भजनके केवल लोकसेवा करनेवालेके भाव उच्च नहीं रह सकते। अतएव लोक-सेवाके साथ-साथ कुछ देर भजन करना तथा भजनके साथ लोकसेवा—कर्तव्यकर्मोंका करना आवश्यक है। ईश्वरसेवाकी भावनासे भजन करते हुए जो लोकसेवा की जाती है, वह ईश्वरसेवा ही है। यदि ऐसा भाव न हो पाये तो सेवाको अपना कर्तव्य समझकर भगवत्प्रीत्यर्थ करना भी उत्तम है। जो लोकसेवा ईश्वरविहीन, केवल दयावश होती है, उसमें यह भाव आ जाना स्वाभाविक है कि 'मैं इन लोगोंका उपकार करता हूँ, इनपर अहसान करता हूँ।' और ऐसा भाव आना सेवामें कलङ्क है। अतएव ईश्वरसेवाकी भावनासे लोकसेवा करनी चाहिये। इस प्रकार सेवा करनेसे लोकसेवाके साथ भगवत्सेवा भी हो जायगी।

भगवान्के वचनोंमें, शास्त्रोंके वचनोंमें, संत-महात्माओंके वचनोंमें श्रद्धा करनी चाहिये। इनमें श्रद्धा होनेसे कल्याणकी प्राप्ति हो जाती है। भगवान्ने अर्जुनसे कहा है—'अर्जुन! जितेन्द्रिय, तत्पर, श्रद्धावान् पुरुष ज्ञानको प्राप्त होता है तथा ज्ञानको प्राप्त होकर तत्क्षण भगवत्-प्राप्तिरूप परमशान्तिको प्राप्त होता है'—

श्रद्धावाँल्लभते ज्ञानं तत्परः संयतेन्द्रियः।
ज्ञानं लब्ध्वा परां शान्तिमचिरेणाधिगच्छति॥

(गीता ५। ३९)

हमारी समझमें भगवान्ने इस श्लोकमें केवल श्रद्धासे परम शान्तिके प्राप्त होनेकी बात कही है। यदि कहें कि "इस लोकमें श्रद्धाके साथ 'तत्परः और संयतेन्द्रियः—ये दो विशेषण और क्यों दिये?" इसका उत्तर यह है कि 'ये विशेषण इसलिये दिये गये हैं कि कोई झूठ-मूठ ही न मान ले कि मेरी श्रद्धा हो गयी। भगवान्के कहनेका भाव यह है कि जहाँ श्रद्धा होगी, वहाँ तत्परता अवश्य होगी और जहाँ तत्परता होगी, वहाँ मनुष्य संयतेन्द्रिय होगा ही। जहाँ तत्परता नहीं, वहाँ श्रद्धा नहीं—यह निश्चित है। जहाँ धूआँ होगा, वहाँ अग्नि अवश्य होगी।

(पुराने सत्सङ्गसे)
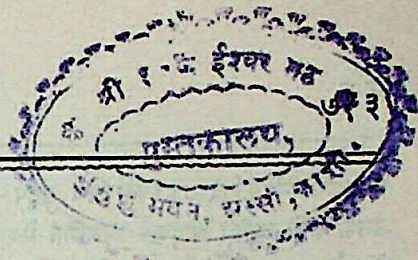
अहंकारका खेल

(लेखक—'साधुवेषमें एक पथिक')

एक वीतराग आत्मवेत्ता सिद्ध संतके निकट रहनेवाले साधकोंमें एकको सिद्धि सुलभ हो सकी, अन्य लोग नहीं पा सके। संतसे इसका कारण पूछा गया। उन्होंने उत्तर दिया कि साधककी सिद्धिमें सिद्धि प्राप्त करनेकी चाह ही बाधक रहा करती है। समस्त लौकिक-पारलौकिक कामनाएँ अहंकारमें ही होती हैं। यह अहंकार ही भोगी बनता है, यही योगी होना चाहता है तथा यही ममकारकी सीमा बढ़ाकर बन्धनमें पड़ता है। यह अहंकार ही मुक्त होना चाहता है। अहंकार ही सत्यस्वरूप परमात्मासे विमुख रहकर उन्हींकी (ईश्वरकी) सृष्टिमें अपनी सृष्टि रचकर रागी-द्वेषी बनता है। अहंकारकी सृष्टि ही उसका अपना आकार है—विस्तृत मेरापन ही उसकी विशालताका रूप है। 'मैं यही तो हूँ'—यही 'अहं'-का आकार है। 'यह सब मेरा है'—इस अन्ध स्वीकृतिके मूलमें 'मैं' रूपी केन्द्र विद्यमान है। 'मैं' केवल एक ही है, पर अहंकार अनेक हैं। अहंकारका ही जन्म होता है, उसे ही मृत्युका दुःख होता है। अहंकार बहुरूपिया है। यही तनके सङ्गसे काला-गोरा, मोटा-दुबला, नीरोग और रोगी बनता है; धनके सङ्गसे धनी या निर्धन बनता है। सम्बन्धियोंके सङ्गसे यह अहंकार ही पुत्र-बन्धु, पति-पिता, पुत्री-भगिनी, पत्नी-माता आदिका अभिमानी होता है। अहंकार ही प्रकृतिके गुणों या दोषोंका सङ्गी बनकर अपनेको लोभी या उदार, क्रोधी अथवा क्षमाशील, कठोर या सरल तथा मोही या विरक्तके रूपमें कहीं दोषी तथा कहीं गुणवान् मानता रहता है। यह अहंकार ही आश्रम-भेदसे कभी अपनेको ब्रह्मचारी, कभी गृहस्थ, कभी वानप्रस्थ तो कभी संन्यासी मानता रहता है। अज्ञानमें ही इस अहंकारकी उत्पत्ति, वृद्धि, उन्नति, प्रगति और सद्गति-प्राप्तिकी कामना है। अज्ञानमें ही यह अहंकार बन्धनसे पीड़ित होता है और मोक्ष चाहता है। अहंकार ही कभी धन और घरकी ओर दौड़ता है तो कभी धन छोड़कर वनकी ओर भागता है। यही कभी नारी या नरके रूपमें आसक्त होता है और कभी उसकी मूर्ति भी नहीं देखना चाहता; कभी स्वर्णको छोड़ना नहीं चाहता तो कभी उसे हाथसे न छूनेका संकल्प करता है।

यह अहंकार ही धनका संग्रह करते हुए धनी बननेका प्रयास करता है तो कभी उसे छोड़कर सर्वोपरि त्यागी बनकर रागियोंसे सम्मान चाहता है। अहंकारके बाह्य रूपोंको देख लेना कठिन नहीं है, पर इसका सूक्ष्म रूप पहचानना मेधावी बुद्धिद्वारा ही सम्भव है। यह अहंकार ही असीममें अपनी सीमा निर्मितकर अति दुराग्रही होता है। जगत्में परस्परके आर्थिक, सामाजिक, धार्मिक और आध्यात्मिक संघर्ष दुराग्रही अहंकारके कारण ही चल रहे हैं। यही अहंकार सावधान होकर कभी सत्याग्रही भी हो जाता है। अहंकार सदा परमात्माके विमुख होकर कर्ता-भोक्ता बनता है। अहंकार घर, परिवार और धन छोड़कर संन्यासी-त्यागी बन जाता है, पर अहंकारको छोड़कर संन्यासी होनेवाला कोई विरला ही मिलता है। बने हुए संन्यासीमें जिस अहंकारका परिचय मिलता है, वैसा अन्यत्र किसी बनावटमें नहीं मिलता। सत्यके सम्मुख न होनेतक यह अहंकार ही हीनतासे पीड़ित होकर पदाधिकारकी तृष्णासे अशान्त रहता है तथा दरिद्रतासे दुःखी होकर धन-सम्पदाके पीछे भागता रहता है; उसे संसारमें कहीं विश्राम नहीं मिलता। तमोगुणी अहंकार राक्षसी बलको पोषित करता है, रजोगुणी अहंकार असुरोंके बलसे युक्त होता है और सत्त्वगुणी अहंकार देवताओंके बलका अधिकारी होता है। गुणोंका अभिमान न रहनेपर अहंकारात्माके स्थानमें महात्माका दर्शन होता है।

अहंकार ही कभी रागी बनता है, कभी विरागी बनता है। अहंकार न रहनेपर वीतराग-पद प्राप्त होता है। अहंकारकी सीमामें ही आसक्ति होती है, फिर विरक्ति होती है; जहाँ अहंकार नहीं है, वहाँ अनासक्ति रहती है। अहंकारमें ही अपेक्षा है तो कभी उपेक्षा है। जहाँ अहंकार नहीं है, वहाँ निरपेक्ष भाव होता है। जहाँ अन्तःकरण प्रभुके ही समर्पित दीखता है, वहाँ अहंकारके स्थानमें महात्मा, परमात्मा अथवा आत्मा ही शेष रह जाता है। यह अहंकार अव्यक्त प्रकृतिमें उसी प्रकार आत्माके योगसे उत्पन्न होता है, जिस प्रकार सूर्यके प्रकाशसे बादल उत्पन्न होता है। जिस प्रकार सूर्यके तापसे बादल उत्पन्न होकर सूर्यको आच्छादित-सा करते हुए उसी (सूर्य) के तापसे ही छिन्न-भिन्न होकर लुप्त हो जाता है, उसी प्रकार आत्माके योगसे प्रकृतिजनित अहंकार आत्माको आच्छादित-सा करते हुए आत्माके ज्ञानद्वारा ही विसर्जित हो जाता है। यह अहंकार जबतक दृश्यका द्रष्टा बना रहता है,

तबतक अपनी कृतिद्वारा दृश्यके साथ तद्रूप—दृश्याकार होकर उनके नामों-रूपोंको ओढ़कर अगणित भेद-भावोंसे सम्बन्धित होता है। समस्त संकल्प अहंकारसे ही गुँथे रहते हैं। संकल्पोंके अनुसार ही अहंकार दुर्गति, सुगति और सद्गतिका भोगी बनता है। यह अहंकार सत्य परमात्मासे विमुख होकर जिसे स्वीकार करता है, उसीके मोहमें बँध जाता है। यह अहंकार पशु-वृत्तियोंके द्वारा पशु, आसुरी अथवा राक्षसी वृत्तियोंद्वारा असुर अथवा राक्षस, दानवी शक्तियों-वृत्तियोंद्वारा दानव और मानवी अथवा दैवी वृत्तियोंद्वारा मानव अथवा देवरूपको प्राप्त होता है। यह अहंकार जब अपने मूल स्रोतकी ओर देखता है, तभीसे परमार्थी होता है और संसारसे विमुख तथा परमात्माके सम्मुख होनेपर फिर वह रह ही नहीं जाता—समाप्त हो जाता है। द्रष्टाका दृश्यके साथ तद्रूप होना ही अहंकार है और अज्ञानमें ही इसका जीवन है। आत्मा—परमात्मा ही परम सत्य है, सब कुछका वही परमाश्रय है—यही ज्ञान है। अहंकार जब ज्ञानमें दीखने लगता है, तब अशान्तिके पीछे प्रशान्ति मिलती है, प्रशान्तिके पीछे प्रेमरूपी प्रभाकी प्रकान्ति दीखती है और उस प्रभा-प्रकान्तिके साथ ही प्रेम-प्रभाकरका आलोक विद्यमान होता है, वहाँ अहंकारकी काली छाया नहीं पहुँच पाती।

अपनेमें सर्वस्व भगवान्का ही जानकर समस्त नामों-रूपोंके पीछे निर्विकार चेतन सत्ताको पहचानकर अपना सब कुछ सबकी सेवामें लौटा देनेसे और सेवाका कर्ता न बननेसे अहंकार विसर्जित हो जाता है। परमात्माके अखण्ड ज्ञानकी कुछ किरणोंको लेकर यह अहंकार ज्ञानी होनेका अभिमानी बनता है। इसी प्रकार असीम प्रेमकी सरसता-मधुरताके कण लेकर यह अहंकार प्रेमी बनता है; पर अहंकार-अणुके हटते ही केवल अखण्ड ज्ञान तथा असीम प्रेम ही सर्वत्र ओत-प्रोत मिलता है।''''''अहंकार अगणित नाम-रूपोंमें परिणत होकर समस्त विश्वमें छाया हुआ है। यह इतना स्वच्छन्द है कि अपने आगे 'मेरा' रखकर अपना आकार बढ़ाता ही रहता है। यह जहाँ-कहीं अपनेको उपस्थित देखता है, 'वहीं' उसीके साथ बलात् मिलकर 'मैं हूँ' कहने लगता है और जो कुछ अपनेमें रख लेता है, उसीको 'मेरा' मानकर अपना आकार बनाता जाता है। जहाँतक 'मेरा' का विस्तार है, वहाँतक फैले हुए 'मैं'का दीर्घाकार है।

'मैं हूँ'—यह चेतना अहं है, 'यह मैं हूँ'—यह ज्ञान अहंकार है।

किसी वस्तु, व्यक्ति और अधिकारसे मिलकर 'अहं' का आकार बन जाना ही अहंकार है। यह 'मैं' ही अहं-भावका मूल स्रोत है; 'यह मेरा है' यही अहंकारकी देह है। अहंकार-की यह देह ही सत्य परमात्माके आगे वह विराट् आवरण है, जो परमात्मासे उत्पन्न होकर (उन्हींके आगे) दीवार बनकर साक्षात्कारमें बाधक होता है। यह अहंकार ही है, जो ज्ञानमें न देखे जानेतक स्वयं ही ज्ञानाभिमानी बनकर भीतरसे नास्तिक बना रहता है, ऊपरसे (बाहरसे) योगी बनकर भीतरसे भोगोंका ही मनन करता है। अहंकारको यदि एक व्यक्तिसे भी सम्मान मिलने लगता है तो उसमें हरापन आने लगता है; पर कालान्तरमें यदि लाखों लोग उसे सम्मान देने लगते हैं, तब भी वह तृप्त नहीं होता; वह सदा दरिद्र और किसी अंशमें सब कुछ पाकर भी भिखारी बना रहता है। अज्ञानमें यह अहंकार जप, तप, व्रत, तीर्थयात्रा, मन्दिरोंकी परिक्रमा और पूजा-पाठ-स्तुतिसे तथा संन्यास लेकर कौपीनमात्र लगाकर सर्दी-गर्मी सहते हुए और तपस्वी बनकर वेष बदलकर नाम-स्थानका परिवर्तन करते हुए अपनी महत्त्वाकाङ्क्षाको तृप्त करना चाहता है। धनिकों तथा पदाधिकारियोंका अहंकार धन एवं पद न रहनेपर दुर्बल भी हो जाता है; पर संन्यासी और तपस्वी लोगोंका अहंकार सदा अकड़ता ही रहता है। अन्तःकरणमें प्रतिबिम्बित अहंकार अपने परमाश्रय परमात्माको नहीं देखता; परमात्मासे विमुख होकर जो कुछ अपने आगे पाता है, उसीका भोगी बना रहता है।

जिस प्रकार प्रकाशमें जहाँतक दृष्टि जाती है, वहाँतक दीखता ही जाता है, उसी प्रकार ज्ञानरूपी आलोकमें जहाँ-तक देखनेकी क्षमता बढ़ती जाती है, वहाँतक दर्शन अनन्त होता जाता है। बाह्य नेत्रोंसे चींटीसे भी छोटा क्षुद्र जन्तु देखता है तो महान् तत्त्वदर्शी ब्रह्मवेत्ता भी देखता है; पर देखनेवालेकी दृष्टिमें अगणित भेद हैं। मानव-जातिमें भिन्न-भिन्न बुद्धि होनेके कारण ही तो दर्शनके पश्चात् निर्णयमें अनेकों भेद चलते रहते हैं। वासनासे सनी हुई बुद्धिद्वारा देखनेवाले मनुष्योंकी अपेक्षा मेधावी बुद्धिवाले मनुष्य सूक्ष्मदर्शी—अन्तर्दर्शी होते हैं; उनसे भी अधिक सूक्ष्मतर

दर्शन ऋतम्भरा बुद्धिवालेंके होते हैं और उनसे भी अधिक पारदर्शी प्रज्ञाबुद्धिद्वारा सूक्ष्मातिसूक्ष्म तत्त्वके जिन्हें दर्शन होते हैं, उन्हें ही आत्मवेत्ता, तत्त्ववेत्ता महात्मा कहा जाता है। तत्त्ववेत्ता अथवा आत्मवेत्ता संतके सङ्गसे ही यह ज्ञात हो रहा है कि संसारका जहाँतक विस्तार है, वहाँतक 'मैं' और 'मेरा'का ही सर्वाधिपत्य है; 'हम' और 'हमारा'का ही स्वर ध्वनित हो रहा है। इस 'मैं' और 'मेरा'की परिधिसे अहंकारकी उत्पत्ति होती है।

अहंकारको न जानना अज्ञान है और अहंकारको देख लेना ज्ञान है। संकल्पों अथवा मस्तिष्कके विचारोंका समाप्त होना ही ज्ञानका मार्ग है। 'मैं'के साथ 'मेरा'का जुड़े रहना ही अहंकार है; मेरा कुछ है ही नहीं—यही अहंकारका समर्पण है। अहंकार यदि किसी वस्तु, व्यक्ति, अवस्था अथवा परिस्थितिमें ठहरे ही नहीं, आगेसे आगे बढ़ता ही जाय तो कहीं-न-कहीं हृदयका अन्त होगा। वहीं वह पूर्णमें—शेषमें विलीन हो सकता है। और यदि अहंकार अपने मूल स्रोतकी ओर लौटता जाय, कहीं रुके ही नहीं, तो लौटते-लौटते 'यह भी नहीं, यह भी नहीं' कहते-कहते शून्यमें आ जायगा। अहंकारसे मुक्तिके लिये करना कुछ है ही नहीं, केवल आवरण—बन्धनको हटाना मात्र है, इसको जानना मात्र है।

जहाँतक आत्माका ज्ञान नहीं है, परमात्म-प्रेमका बोध नहीं है, वहाँतक अहंकारका ही दुर्भाव है। अहंकारमें ही समस्त हिंसा है। चित्तकी वृत्तिके रूपमें अहंकारकी गति है, वृत्ति शान्त होते ही अहंकार नहीं रहता। मैं ही सब कुछ हूँ, यह जगत् मेरे लिये है, यह मेरे ही काम आता रहे—यही अहंकारकी भूख है। अहंकार ही इन्द्रियोंके सहारे सुविधाएँ चाहता है। समस्त भौतिक विज्ञान अहंकारकी सुविधाओंके लिये है। सुविधाओंसे क्षणिक सुख प्रतीत होता है; पर दुःख दूर नहीं होता, अशान्तिका अन्त नहीं होता। सुविधाओंसे कष्ट हट जाता है, पर मनको दुःख घेरे रहता है। दुःखकी पूर्णतामें आनन्दकी अभिलाषा बढ़ती है। यह आनन्द संसार अथवा किसी वस्तु या व्यक्तिके सहारे नहीं मिलता; यह आनन्द तो अनादि, अनन्त-शाश्वत अमृत जीवनके बोधसे सुलभ होता है और यह परम सत्य-बोध अहंकारकी सीमासे मुक्त होनेपर ही होता है।

'गरब न कीजै बावरे !'

गरब न कीजै बावरे, हरि गरब-प्रहारी।
गरबहि ते रावन गया, पाया दुख भारी॥
जरन खुदी रघुनाथके मन नाहिं सुहाती।
जाके जिय अभिमान है, ताकी तोरत छाती॥
एक दया अरु दीनता ले रहिये भाई।
चरन गहौ जाय साधके, रीझैं रघुराई॥
यही बड़ा उपदेस है परद्रोह न करिये।
कह मलूक हरि सुमिरि कै भौसागर तरिये॥

—मलूकदासजी

एक महात्माका प्रसाद

प्राणीका चित्त सुख तथा दुःखमें आबद्ध रहता है। उससे मुक्त होनेके लिये सेवा तथा त्याग परम आवश्यक हैं। प्राणी जिस अंशमें सुखी है, उस अंशमें सेवा और जिस अंशमें दुःखी है, उस अंशमें त्याग करनेमें सर्वदा स्वतन्त्र है।

वास्तवमें तो त्यागका क्रियात्मक स्वरूप सेवा और सेवाका विचारात्मक स्वरूप त्याग है। सेवा तथा त्याग दायें-बायें पैरके समान हैं। इन दोनोंके द्वारा ही प्राणी अपने चरम लक्ष्यतक पहुँचता है।

ऐसी कोई निर्बलता नहीं, जो सेवा तथा त्यागसे मिट नहीं जाती। प्राप्त सुख-दुःखसे मुक्त होनेपर ही प्राणीका चित्त सहज स्वभावसे परमात्मतत्त्वमें विलीन हो सकता है।

× × ×

प्रार्थना प्राणीकी वास्तविक पुकार है। ज्यों-ज्यों अपनी निर्बलताओंसे प्राणी परिचित होता है, त्यों-त्यों स्वभावसे ही प्रार्थना होने लगती है। अपनी निर्बलताका ज्ञान विकासका मूल है; क्योंकि वर्तमानकी आवश्यकतासे ही भविष्यकी उपलब्धि होती है। आवश्यकता उसीकी होती है, जिससे जातीय तथा स्वरूपकी एकता और मानी हुई भिन्नता हो। मानी हुई भिन्नता प्रमादको उत्पन्नकर प्राणीको अनेक निर्बलताओंमें आबद्ध कर देती है। ज्यों-ज्यों निर्बलताजनित वेदना बढ़ती जाती है, त्यों-त्यों उन निर्बलताओंका अन्त करनेके लिये स्वभावसे ही प्रार्थना होने लगती है। प्रार्थना उसीके लिये होती है, जिसकी प्राप्ति अनिवार्य है। इस दृष्टिसे प्रार्थना सफलताकी कुंजी है।

प्रार्थना प्राणीमात्रको स्वभावसे ही अभीष्ट है। दार्शनिक दृष्टि तथा मान्यताओंका भेद होनेपर भी प्रार्थना सभीकी एक है; कारण, स्वाभाविक आवश्यकता सबकी एक और अस्वाभाविक इच्छाएँ अनेक हैं। प्रार्थनाका उद्गम-स्थान स्वाभाविक आवश्यकता है, जो बीजरूपसे प्राणीमात्रमें एक है।

× × ×

जिस प्रकार अचल हिमालयसे अनेक नदियाँ निकलती हैं और भूमिको हरी-भरी बनानेमें समर्थ होती हैं, उसी प्रकार अन्तर्मुख प्रेमयुक्त जीवनसे सेवारूपी अनेक नदियाँ निकलती हैं, जो विश्वको हरा-भरा बनानेमें समर्थ होती हैं; अथवा यों कहें कि प्रेमसे अपना कल्याण और सेवासे सुन्दर समाजका निर्माण होता है। सेवाभावसे उत्पन्न हुई क्रियाशीलता प्रेमको पुष्ट करती है और प्रेम सेवाको सजीव बनाता है। सेवा तथा प्रेमयुक्त जीवनसे ही रुचिका अन्त होता है। रुचि-अरुचिका अन्त होते ही अहंभाव गल जाता है। अहंभावके गलते ही सब प्रकारकी चाहका अन्त हो जाता है। फिर लक्ष्यसे अभिन्नता स्वतः प्राप्त हो जाती है, जो निस्संदेहता और प्रेमकी प्राप्तिमें समर्थ है। यही जीवन-का लक्ष्य है।

× × ×

अधिकार कर्तव्यका दास है; क्योंकि कर्तव्यनिष्ठ प्राणियोंको अधिकार स्वतः ही मिल जाता है और कर्तव्य-पालन न करनेपर मिला हुआ अधिकार छिन जाता है। इसी कारण विचारशील अधिकार माँगनेका प्रयत्न नहीं करते, प्रत्युत अपने कर्तव्यपालनमें सदैव तत्पर रहते हैं। प्रत्येक कर्ता अपने कर्तव्यपालनमें सर्वदा स्वतन्त्र है। अकर्तव्य केवल मिली हुई शक्तिके दुरुपयोगमें है। अतः मिली हुई शक्तिका सदुपयोग कर कर्तव्यनिष्ठ बन जाओ, यही उन्नतिका मूल है।

× × ×

साधककी प्रत्येक प्रवृत्ति स्वभावसे ही सर्वहितकारी

होती है और सहज निवृत्ति प्रदान करती है। जो प्रवृत्ति निवृत्तिमें विलीन नहीं होती, वह मानवको अनेक प्रकारकी पराधीनताओं तथा अभावोंमें आबद्ध करती है। इस कारण प्रवृत्तिके आरम्भसे पूर्व ही साधकको बड़ी ही सजगतापूर्वक विधिवत् पवित्रभावसे लक्ष्यपर दृष्टि रखकर प्रवृत्त होनेका निर्णय कर लेना चाहिये। प्रवृत्ति अपने लिये नहीं है, अपितु जगत् और जगत्पतिकी सेवा-पूजाके लिये है। अपने लिये तो ज्ञानपूर्वक निवृत्ति ही अपेक्षित है। निवृत्तिका अर्थ अकर्मण्यता तथा आलस्य नहीं है, अपितु अवस्थातीत दिव्य चिन्मय जीवनसे अभिन्न होनेके लिये एकमात्र सहज निवृत्ति ही अचूक उपाय है। इससे यह सिद्ध हुआ कि प्रवृत्ति निवृत्तिके लिये है। सहज निवृत्ति आ जानेपर उदारता, समता एवं स्वाधीनता स्वतः प्राप्त होती हैं। उदारता जगत्से अभिन्न करती है और समता देहातीत जीवनसे अभिन्न करती है, तब फिर किसी प्रकारकी पराधीनता, जडता तथा अभाव शेष नहीं रहते। इस दृष्टिसे प्रवृत्ति और निवृत्तिके द्वारा जीवन जगत्के लिये और अपने लिये उपयोगी होता है। उसके पश्चात् स्वतः साधक पावन प्रेमका अधिकारी हो जाता है। प्रेमतत्त्वकी अभिव्यक्ति होनेपर ही जीवन प्रेमास्पदके लिये उपयोगी होता है। अतः प्रत्येक साधकको सतत सहजभावसे यह आवश्यकता अनुभव करनी चाहिये कि जीवन सभीके लिये उपयोगी हो जाय। आवश्यकता अनुभव करनेमें मानव सर्वदा स्वाधीन तथा समर्थ है और उसकी पूर्ति करना अनन्तका सहज स्वभाव है।

इस मङ्गलमय विधानमें अविचल आस्था अनिवार्य है। विधानकी आस्थामें ही जीवनकी आस्था है। विधान अनन्तका स्वभाव है। जब विधानमें आस्था हो जाती है, तब अपने-आप अनन्तमें आस्था हो जाती है। अनन्तके अस्तित्वको स्वीकार करनेपर किसी अन्यके अस्तित्वकी अपेक्षा ही नहीं रहती। जिसके अस्तित्वको साधक स्वीकार कर लेता है, उसीका महत्त्व अभिव्यक्त होता है, जिसके होते ही सभी परिवर्तनशील, क्षणभङ्गुर आकर्षण सदाके लिये समाप्त हो जाते हैं और फिर स्वतः अखण्ड स्मृति उदित होती है, जो प्रेमीकी प्रेमास्पदसे दूरी, भेद-भिन्नता शेष नहीं रहने देती, अर्थात् प्रेमास्पदसे अभिन्नता प्राप्त कराती है। अथवा यों कहें कि योग-बोध-प्रेमकी प्राप्ति और भोग-मोह-आसक्तिकी निवृत्ति सदाके लिये हो जाती है, जो मानवमात्रकी वास्तविक माँग है।

पाद-वन्दन

(रचयिता—स्वामी श्रीसनातनदेवजी)

प्रियालू के पद-पद्म परूँ।
जावक-जुत अति अमल कमल-सम, उर-पद-पीठ धरूँ॥
निरखि-निरखि नवनीत-मृदुलता, परसत पानि डरूँ।
भाव-भगतिमयि पुहुपावलि सौं, पूजन सतत करूँ॥ १॥
मुनिजन ध्यान धरहिं, हौं तिन की महिमा कहा करूँ।
जिन पद-पंकज के अलि प्रीतम, कैसे तिन बिसरूँ॥ २॥
कृपा होय तिन की तौ मैं फिर जम सौं कहा डरूँ।
तृन-सम तोरि सकल भव-बंधन प्रीति-वीथि बिचरूँ॥ ३॥
नख-मनि की उज्ज्वल आभा सौं उर-तम-तिमिर हरूँ।
पद-रज सौं रज माँजि हिपें सुचि सत-रवि प्रगट करूँ॥ ४॥
एहि विधि तीनिहुँ गुन-गन परिहरि चिन्मय देह धरूँ।
चित्स्वरूप पद-पंकज भजि-भजि चिद्लीला बिहरूँ॥ ५॥

परमार्थकी पगडंडियाँ

[नित्यलीलालीन परमश्रद्धेय श्रीभाईजी (श्रीहनुमानप्रसादजी पोद्दार) के अमृत वचन]

तुम अपने भगवान्‌के चरणोंमें ही हो, चरणोंमें ही रहोगे

विश्वास रखो—आत्माके नित्य सम्बन्धमें कभी न किसी प्रकारके भी विच्छेदकी सम्भावना है, न वियोगकी। वह परम पावन मधुरतम सम्बन्ध तो नित्य नवीन रूपमें बढ़ता ही जायगा—शरीर कहीं भी रहे, रहे या न रहे; क्योंकि स्थूलशरीर कहीं भी स्थायी नहीं रहता। भगवान् श्रीराम और भगवान् श्रीकृष्णके शरीर भगवद्रूप ही हैं, पाञ्चभौतिक नहीं; पर लीलारूपमें उनका भी प्राकट्य तथा अन्तर्धान होता है। अतएव जरा भी चिन्ता-विषाद करना अनुचित है। भगवान् नित्य-निरन्तर तुम्हारे पास हैं, पास रहेंगे—इसमें जरा भी संदेह नहीं। तुम निश्चय समझो—तुम्हारी गति-मति, प्राणोंके प्राण तथा आत्माके आत्मा निश्चय ही भगवान् हैं और वे ही रहेंगे। तुम्हारा स्थान उनके यहाँ निश्चित है। तुमपर भगवान्‌की अनन्त अनुकम्पा और परम प्रीति है, इसका तुम अनुभव करो तथा निरन्तर सुख-सुधा-सागरमें डूबे रहो। शरीरकी चिन्ता ही मत करो। तुम यह स्थूलशरीर नहीं हो—तुम तो वह प्रेमतत्त्व हो, जो प्रेमास्पद, प्रेमस्वरूप भगवान्‌का अपना स्वरूप है। तुम्हें जप-तप-दानकी आवश्यकता नहीं, प्रेम ही सब साधनोंका शिरोमणि तथा सबका अचिन्त्य फल है। तुम अपने भगवान्‌के चरणोंमें ही हो, चरणोंमें ही रहोगे। चिन्ता मत करो; सदा उन चिन्तामणिका ही चिन्तन करते रहो, जो तुम्हारे सर्वस्व हैं तथा जिन्होंने तुमको अपना स्वीकार कर लिया है। वे प्रभु ग्रहण करना जानते हैं, त्याग करना जानते ही नहीं। त्याग करना उनके स्वभावमें ही नहीं है। हम भले ही उनका त्याग करना, उन्हें भूल जाना चाहें; पर वे 'अच्युत' तो कभी भी अपने सहज स्वभावसे च्युत होकर हमारा त्याग नहीं करते, कर सकते ही नहीं।

सदा प्रसन्न रहकर भगवान्‌का प्रसन्नता-सम्पादन किया करो

मनमें बहुत प्रसन्न रहना, जरा भी खिन्न मन मत होना। भगवान् तो सदा तुम्हारे पास हैं ही। दिन-रात तुम्हारे समीप रहते हैं। तुम सदा प्रसन्न रहकर उनका प्रसन्नता-सम्पादन किया करो।

अपनेको केवल अपने भगवान्‌का ही बनाये रखना चाहिये

मनको सदा क्षोभरहित रखनेका प्रयत्न करना है। भगवान् कहते हैं—'मैं उसका हृदय हूँ; वह केवल मुझको जानता है और मैं केवल उसको जानता हूँ'—इस बातपर विश्वास रखना चाहिये। भगवान् तुम्हारे हैं; तुम्हारी चीज सदा तुम्हारी ही है और तुम्हारी ही रहेगी। नित्य-निरन्तर अपनेको केवल और केवल अपने भगवान्‌का ही बनाये रखना चाहिये। दूसरे किसी भी प्राणीका, पदार्थका, परिस्थितिका कभी भी प्रभाव न पड़े। पार्वतीजीने कहा—

> महादेव अवगुन भवन बिष्नु सकल गुन धाम।
> जेहि कर मनु रम जाहि सन तेहि तेही सन काम॥ (मानस १। ८०)

कोई भी प्रलोभन या भय कभी भी तुम्हें डिगा न सके। 'उत्तम के अस बस मन माहीं। सपनेहुँ आन पुरुष जग नाहीं॥' (मानस ३। ४। ६) बस, एकमात्र यही दृढ़ स्थिति रहनी चाहिये, अपने भगवान्‌में ही एकमात्र निष्ठा रहनी चाहिये। फिर भगवान् तो सदा मिले हुए हैं ही। वे सदा-सर्वत्र वर्तमान हैं, सदा तुम्हारे पास हैं—तुम निश्चयपूर्वक इसका अनुभव करो।

स्थूलशरीरकी सीमामें भगवत्प्रेम नहीं आता

यह बात ध्यानमें रखनी चाहिये कि भगवत्प्रेमका क्षेत्र नित्य, सत्य, शाश्वत है । स्थूलशरीरकी सीमामें भगवत्प्रेम नहीं आता। शरीर रहे या न रहे, अथवा कोई-सा भी शरीर प्राप्त हो जाय—उस प्रेमकी सत्तामें उत्तरोत्तर वृद्धि ही होती है । शरीरतक ही सीमित प्रेम यथार्थ प्रेम नहीं है; बल्कि शरीरका स्थूलभाव तो प्रेममें तिरोहित ही हो जाता है । इसलिये भगवत्प्रेम शरीरके क्षेत्रमें नहीं समझना चाहिये और यह है भी नहीं । अविनाशी, नित्य, सत्य भगवत्प्रेमका आधार अनित्य, विनाशी, असत् स्थूलशरीर नहीं, नित्य आत्मा है, जो इस शरीरके नष्ट होनेके बाद भी सदा रहता है और रहता है भगवत्प्रेमके अगाध रस-सुधा-सागरमें डूबा हुआ । यही मरणोत्तर व्रजरसमें प्रवेश है, जिसके तुम अधिकारी हो । अतएव अपने स्वरूपकी महत्ताको समझकर सदा सुप्रसन्न रहा करो। भगवान् तुमसे कभी अलग नहीं होते, हो सकते नहीं, होंगे नहीं—यह निश्चित है; तुम्हें इसको अनुभव करना चाहिये ।

भगवान् दिन-रात प्रेमीके प्रेमरसका आस्वादन करते रहते हैं

प्रेमका यह स्वभाव है—मनमें प्रभुके अमिलनकी भयानक पीड़ा और नित्य मिलनका महान् परम सुख, दोनों ही होते रहते हैं। श्रीचैतन्य महाप्रभु इसी भावमें रहते थे। मनका ही 'विप्रलम्भ' और मनका ही 'मिलन'—ये प्रेम-सरिताके दो पावन तट हैं, जिनके बीच यह मधुरतम (कभी-कभी तीव्र-तीक्ष्णरूपमें तथा कभी माधुर्यको छिपाये हुए) प्रेम-सुधा-सरिता प्रवाहित होती रहती है। वस्तुतः प्रभु कभी पृथक् होते नहीं । वे स्वयं इतने प्रेम-परवश हैं कि प्रेमीका क्षणभरका वियोग भी उन्हें सहन नहीं होता । वे कभी प्रकट, कभी अप्रकट रूपमें प्रेमीकी प्रत्येक चेष्टाको दिन-रात बिना विरामके देखते ही रहते हैं और केवल द्रष्टा-साक्षीके रूपमें, तटस्थ-भावसे नहीं, स्वयं प्रेमरसास्वादन करते रहते हैं । प्रेमीको कभी यह अनुभव कराते हैं, कभी नहीं । अनुभव न करानेमें भी उनका रसास्वादन ही हेतु होता है । वे प्रेमीकी 'वियोग-विकलता' और 'संयोग-सुखमयता' देख-देखकर उसपर न्योछावर होते रहते हैं । कितनी व्याकुल हुई श्रीगोपाङ्गनाएँ रासमण्डलमें भगवान् श्रीश्यामसुन्दरके अन्तर्धान होनेपर—पर वे भगवान् कहीं गये थोड़े ही थे, छिपे-छिपे प्रेममयी गोपरमणियोंकी एक-एक चेष्टाको देख-देखकर मुग्ध हो रहे थे । उन्होंने स्वयं प्रकट होनेके बाद यह बतलाया भी था । प्रेमी प्रभुमें अपनेको खो देता है, तो भगवान् अपनी सारी भगवत्ता प्रेमीके प्रेमकी प्रबल धारामें बहा देते हैं । तुम भगवान्‌के—अपने एकमात्र आश्रय, शरण्य, प्रेमास्पद, परम प्रियतम प्रभुके साथ दिन-रात एक हुए रहो। शरीर कहीं रहे, शरीरका मरना-जीना कोई अर्थ ही नहीं रखता । प्रभुके मिलनमें शरीर प्रभुमय ही रहता है और प्रभुका वह मिलन नित्य है ही । एक क्षण भी अमिलनकी कल्पनाको भी कहीं स्थान मत दो ।

प्रेमीसे उसके भगवान्‌को कोई अलग नहीं कर सकता

सदा मनमें रहनेवाले—और अपने पवित्रतम भावके अनुसार प्रत्यक्षरूपमें भी साथ रहनेवाले भगवान्‌को प्रेमीसे कोई अलग कर नहीं सकता । यहाँके आदमियोंकी तो शक्ति ही क्या है, मृत्यु तथा देवता भी उनको अलग नहीं कर सकते, शरीरका कोई महत्त्व ही नहीं ।

श्रीश्यामसुन्दरकी इच्छामें अपनी सारी इच्छाओंको विलीन कर दें

तुमने अपनी मानसिक अधीरताकी स्थिति लिखी, सो ठीक ही है । पर सब वैसे ही होता है, जैसे मङ्गलमय भगवान्‌का मङ्गल-विधान होता है । मनमें विश्वास करके सदा प्रसन्न रहना चाहिये । दूसरोंका

मन बदलनेके लिये प्रयत्न करना अच्छा है, पर वास्तवमें किसीका मन बदलनेकी इच्छा ही क्यों करें ? बदलना ही हो तो अपना ही मन बदलें, जो दूसरोंका मन बदलनेकी अपेक्षा अधिक सुगम तथा सहज है। इससे भी उत्तम यह है—परम सुहृद्, परम प्रियतम श्रीश्यामसुन्दरकी इच्छामें अपनी सारी इच्छाओं-को विलीन कर दें। जो कुछ परेच्छा-अनिच्छासे होता है, सब उनकी इच्छासे होता है और उनकी इच्छाको अत्यन्त हर्षपूर्वक परम अनुकूल बनाकर स्वीकार करना चाहिये।

इस प्रकार देखना चाहिये—भगवान् मेरे और मैं उनका चेरा

श्रीभगवान्‌को सदा-सर्वदा अपने साथ, अपने भीतर, अपने बाहर, सभी समय, सभी कार्योंमें योगदान देते हुए देखना चाहिये। भगवान्‌पर अपना अधिकार मानना चाहिये तथा अपनेको सदा-सर्वदा एवं सर्वथा भगवान्‌के अधीन देखना चाहिये। भगवान् मेरे—एकदम मेरे—सदा मेरे—परम प्रियतम, परम-धन, परमगति—सब कुछ मेरे हैं और मैं नित्य-निरन्तर उनके सुखका साधक, उनका चेरा, दास, उनकी अपनी ही चीज, उनका अपना ही यन्त्र हूँ—इस प्रकार देखना चाहिये। ऐसी ही बात है, निस्संदेह ऐसी ही है।

भगवान्‌को एक बार सौंप देनेपर वे सदाके लिये स्वामी हो जाते हैं

भगवान् कभी भी हृदयसे दूर नहीं होंगे— यह पक्का निश्चित विश्वास रखना। खाली हृदयमें ही तो प्रेमधन प्रियतम भगवान् अपना आसन जमाया करते हैं, अतः उन्होंने तुम्हारे हृदयमें अपना दृढ़ आसन जमा लिया है और वे कभी हृदयसे अपना अधिकार अब उठायेंगे नहीं। उन्हें एक बार सौंप देनेपर तो वे सदाके लिये स्वामी हो जाते हैं, इसमें जरा भी संदेह नहीं है।

जो अपनेको भगवान्‌के अर्पण कर चुका है, वह तो अपने-आप कुछ रहा ही नहीं

तुम अपने मनमें किसी भी बातको लेकर न तो चिन्ता करो, न क्षुब्ध होओ। जो अपनेको भगवान्‌के अर्पण कर चुका है, वह तो अपने-आप कुछ रहा ही नहीं; उसकी सब चिन्ता उसके भगवान्‌को ही है। वह क्यों चिन्ता करे, क्यों किसी चीजकी कल्पना करे ? वह तो अपने भगवान्‌के हाथका यन्त्र है। उसे न जीवनसे मतलब है न मरणसे; न लाभसे न हानिसे; न मानसे न अपमानसे; न चाहसे न अचाहसे। सभी चाह, लालसा, चिन्ता, कल्पना अपने प्रभुकी चीज हो गयी। अब तो उसके स्थानपर वह है ही नहीं, उसके प्रभु ही हैं। तुम्हारे मनमें होनेवाला दुःख भी, क्षोभ भी, चिन्ता भी, भय भी—सब उन्हींमें तथा उन्हींसे हो रहा है। तुम्हारी पृथक् मान्यता, अपनेमें प्रेमके अभावका तथा दोषोंका दर्शन—यह भी उन्हींमें तथा उन्हींसे है। वे ही लीलामय तुम्हारे इस ढाँचेमें अपनी लीला कर रहे हैं। वस्तुतः तो तुम हो ही नहीं, तुम्हारी सत्ता उनमें अपनेको खो चुकी है।

समर्पणकर्ताके मन-प्राणोंपर उन्हींका एकाधिकार होता है

तुम बहुत-बहुत प्रसन्न रहना। मनमें सदा प्रफुल्लित रहना। तुम्हारे प्रति भगवान्‌की अनुकम्पा, प्रीति तथा आत्मीयता परम श्रेष्ठ तथा सर्वथा विलक्षण है—इस बातपर खूब विश्वास रखना। तुम्हारे मन-प्राणोंपर उन्हींका एकाधिकार है, जो शरीरके अधिकारसे बहुत ही ऊँची चीज है। तुम तो अपनेको उनके समर्पण कर चुके हो। शरीर तथा वस्तुएँ तो समर्पण होती नहीं; क्योंकि ये तो अपनी वस्तु नहीं हैं। इसीसे मृत्युके समय ये सब छूट जाती हैं। अपनी वस्तु तो अपना आप है, जो समर्पित होनेपर अपना रहता ही नहीं। फिर किस बातकी कौन चिन्ता करे और कैसे चिन्ता करे ? तुम तो समर्पण करके निश्चिन्त हो चुके हो। तुम्हारा अपना 'तुम' ही जब उनका हो गया है, तब सोचनेवाला उनके सिवा और कौन रह गया ? इसलिये तुम सदा निश्चिन्त रहकर अपनेमें प्रभुकी निर्बाध लीला होने दो; बस, मौज-ही-मौज है।

(पुराने पत्रोंसे संगृहीत)

साधनोंका उपयोग

(लेखक—आचार्य श्रीमुंशीरामजी शर्मा 'सोम')

मानव साधनोंके बलपर जिस दिशामें चाहे, उन्नति कर सकता है। साधन उसके अंदर भी हैं और बाहर भी। दोनों ही प्रकारके साधनोंमें कुछ दृश्य हैं और कुछ अदृश्य। हाथ, पैर, आँख, कान आदि दृश्य हैं; परंतु भावना और कल्पना अदृश्य हैं। शरीरसे बाहर सूर्य, चन्द्र, पृथ्वी आदि दृश्य हैं; परंतु प्रकाशकी लहरें और ध्वनिकी लहरें अदृश्य हैं। मन्थन करनेपर अदृश्य उपादान-शक्तियाँ दृश्य भी बन सकती हैं। अनुभूतिमें तो आती ही रहती हैं। जैसे तीनों प्रकारके शरीर मेरे लिये साधनरूप हैं, वैसे ही बाहरकी त्रिलोकी भी मेरे लिये साधनरूप है। इनके अतिरिक्त कुछ साधन मानव-कृत भी हैं। ये सभी प्रकारके साधन सबके लिये सुगम और सुलभ हों, ग्राह्य एवं वर्तनीय हों—ऐसी बात नहीं है। पुण्यकर्म एवं पुरुषार्थ जबतक साथ नहीं देते, अथवा महत्कृपा या भगवत्कृपाका सुयोग नहीं प्राप्त होता, तबतक दूर क्या, समीप रहनेपर भी ये साधन सहायक नहीं बन पाते।

पुण्यकर्मोंके लिये पुरुषार्थकी अपेक्षा है। ये पुण्यकर्म महत्कृपा तथा भगवत्कृपाको भी सुलभ कर देते हैं। कभी-कभी ऐसा भी होता है, जब मानव अपने पुरुषार्थसे कारणवश निराश हो जाता है; उस समय यदि पीड़ित अन्तःकरण सहायताके लिये पुकार उठे तो उपयुक्त सहायक प्राप्त हो जाता है। चराचर विश्वका नियामक सहज दयालु है। उसकी भुजाएँ बलवान् और विशाल हैं। उसकी शक्ति अपार है। उसके मार्ग अनन्त हैं। उसकी रक्षण-शक्तियाँ कभी क्षीण नहीं होतीं। अन्तःकरणकी पुकार सुनते ही वह अदृश्य प्रकट हो जाता है, अपने अनन्त बलों और रक्षा-शक्तियोंके साथ आता है और पीड़ित प्राणी त्राण पा जाता है। अदृष्टसे प्राप्त हुए ये रक्षण मानवके अमोघ अवलम्बन हैं। इन्हीं अवलम्बनोंका स्मरण करके मानव आश्वस्त होता रहता है।

वैज्ञानिक उपलब्धियाँ बौद्धिक एवं शारीरिक पुरुषार्थका परिणाम हैं, परंतु सफलता और असफलताके पीछे कोई-न-कोई नियामिका शक्ति छिपी रहती है। अमेरिकाने चन्द्रमें वायुयान उतार दिया, मनुष्योंको उतार दिया और वे लौटकर पुनः पृथ्वीपर आ गये। रूस ऐसा नहीं कर सका। अन्य देश ऐसा करनेका या तो साहस नहीं रखते अथवा साधन-शून्य हैं। अमेरिका इस दिशामें विपुल धन व्यय कर चुका है। जिस ऑक्सीजनको यात्री अपने साथ ले गये, उसके मूल्यके साथ यदि यन्त्रोंके निर्माणमें जो धन व्यय हुआ है, उसे भी सम्मिलित कर लें तो यह राशि अरबकी संख्यातक पहुँच जायगी। इस धन-राशिके साथ यन्त्रादिके निर्माणमें जिस बुद्धिने सहयोग दिया है, उसके मूल्यको कौन आँक सकता है? पुरुषार्थका यह खेल अद्भुत है, विचित्र है; पर यहाँ मानवके हाथमें आयी हुई धन-राशिकी भी सीमा है और बुद्धि-वैभवकी भी इयत्ता है। अनन्त सम्पदा तथा अनन्त बुद्धि भी यहींपर हैं और वे सर्वव्यापक परमतत्त्वके आश्रित हैं। जिस दिन मानव अपने पुरुषार्थके साथ इस परमतत्त्वकी संनिधिका अनुभव करेगा, उस दिन वह कृतकृत्य हो जायगा। खण्डमें पड़ा हुआ पुरुषार्थ वैमनस्यका उत्पादक है। उसके साथ असूया, ईर्ष्या, राग-द्वेष आदि लगे रहते हैं। अखण्डके साथ नीरजस्तम अवस्था है। शान्ति भी वहींपर है।

आज विश्व अशान्त है। वातावरण राग और द्वेषसे आक्रान्त है। मानव मानवसे भयभीत है। नाना प्रकारकी चिन्ताओंसे ग्रस्त आजका मानव अपना दुःख दूर करनेके लिये लालसाभरी आँखोंसे किसीकी ओर देख रहा है। दो युद्ध इसी युगमें हो चुके हैं। तीसरे युद्धकी भीषण कल्पना सम्भवतः प्रत्यक्ष होने जा रही है। नियतिका कुछ ऐसा ही विधान जान पड़ता है। अपने बल-पौरुषपर सर्वाधिक विश्वास करके हममेंसे सभी एक-दूसरेको नीचा दिखानेके लिये कटिबद्ध हैं। बेचारी बुद्धि जो हमें प्रकाशके लिये प्राप्त हुई है, हमें विध्वंसके सघन अन्धकारकी ओर ले जा रही है। हम इस बुद्धिका सदुपयोग नहीं कर रहे हैं। उसके साथ व्यभिचार कर रहे हैं। महामाया इसका दुष्परिणाम हमारे सामने उपस्थित कर रही है। सम्भव है, इन दुष्परिणामोंको झेलकर हम अपने स्वत्व और सत्त्वको हृदयंगम कर सकें और विनयपूर्वक आत्मस्थ होकर अपने वाञ्छनीय प्राप्यको प्राप्त कर सकें।

मानवमात्रकी आकाङ्क्षा है कि कोई भीषण विपत्ति उसके समक्ष उपस्थित न हो। इस आकाङ्क्षाकी पूर्तिके लिये वह प्रयत्नशील भी है। पर प्रतिस्पर्धा इतनी प्रबल बन गयी है कि वह समस्त उपलब्ध साधनोंके द्वारा सामाजिक, जातीय एवं राष्ट्रीय अहंको तुष्ट करना ही चाहती है। दूसरेके अहंकी उसे रंचमात्र भी चिन्ता नहीं है और स्थिति इतनी विकट होती जाती है कि अवसर मिलते ही एक पक्ष अपने प्रतिस्पर्धीको कुचल डालनेमें कोई भी कसर नहीं रहने देगा।

सर्वमङ्गलकारिणी जगदम्बा यदि अपने देव-दानवरूप पुत्रोंपर अनुकम्पाभरी दृष्टि डाले तो हम सब सहज ही प्राप्त साधनोंका सदुपयोग करके मानवताके उन्नयनमें सहायक बन सकते हैं। पर उसकी एकान्त-प्रसक्तिता उसे ऐसा क्यों करने देगी ? स्वतन्त्रकर्ता जीव अपनी स्वतन्त्रताका फल भोगेगा ही। वह माँकी ओर क्यों उन्मुख होगा ? सयाना जो हो गया है—सयाना ही नहीं, विज्ञानने उसे मदान्ध भी बना दिया है। उसकी दृष्टि अम्बाकी ओर है कहाँ ? अपने पुरुषार्थकी ओर है। उसीके नृत्यमें वह मग्न है। साधन उसके हैं—यह अहंता ही उसे अलातचक्रमें डाले हुए है। जिस दिन वह समझेगा कि मेरा कुछ नहीं, जो कुछ है, उसी अम्बाका है, उसी दिन वह उसके दिये साधनोंके सुप्रयोगमें जुट पायेगा।

तेरा निमन्त्रणः मेरा अन्वेषण

(लेखक—डा० श्रीशिवबहादुरसिंहजी एम्० ए०, पी-एच्० डी०)

स्वामिन् ! तूने प्रेम-निमन्त्रण दिया। मैं आत्म-विभोर था, भला सुधि तो ली। तेरी वाणी पुनः उद्घोषित हुई—'मैं तुझे प्रेम करता हूँ।' मैं सुध-बुध खोकर नतमस्तक हुआ, अञ्जलि जोड़े चरण-स्पर्श करना चाहा। वाणी मूक थी, भावाभिव्यक्तिके अतिरेकसे गला रुँधा था; अपार आनन्दकी अनुभूतिमें धीरेसे निवेदन किया—धन्य हैं मेरे भाग्य। तूने स्मरण तो किया; मैं तो केवल तेरा हूँ, तू जो चाहे कर। इस क्षुद्र प्राणीपर तेरी महती दया।' इस कथनके साथ ही चरणोंपर गिर पड़ा—परंतु यह क्या ! यहाँ तो कोई नहीं !! प्रभुके दर्शन नहीं !!! यह तो एक स्वप्नमात्र था। पर इससे क्या ? अन्तरमें बैठे प्रेमास्पद प्रभुका आदेश है—'मैं तुझे प्रेमके गह्वरमें डाल देना चाहता हूँ। क्या तुम इस स्वप्नको लिपिबद्ध कर सकते हो ?' स्वामीकी आज्ञा शिरोधार्य, पर क्या हृदयकी सही स्थिति एवं भावको किसीकी लेखनी आजतक उतार सकी है ? सम्भवतः नहीं। पुनः मेरी लेखनी अतिशय त्रुटिपूर्ण है। पर इससे क्या ? 'स्वामिन् ! तेरे आदेशानुसार श्रद्धा-सुमन तो चढ़ाने ही हैं, भले ही वे सुमन निर्गन्ध तथा साधारण हों। मुझे तो, बस, तेरी आज्ञाका पालन करना है। आगे तेरी और केवल तेरी इच्छा, तू जाने और तेरा काम जाने।'

× × ×

मैं तो तेरा दर्शन करना चाहता हूँ, पर तू कहाँ होने देता है ? तू स्वतः लुका-छिपी करता है। हर पदार्थमें परोक्षरूपसे स्थित होकर छिपे-छिपे धीरे-धीरे तू बुलाता है—वायुकी मर्मर-ध्वनिमें, वृक्षोंके हिलते किसलयोंमें, नदियोंकी चञ्चल धाराओंमें तथा सागरकी उत्ताल तरंगोंमें केवल तेरा ही संगीत गाया जा रहा है, पर मैं अबोध कहाँ समझ पाता हूँ। मैं तो केवल बाह्य रूपमें उलझ जाता हूँ, उसके अन्तरमें स्थित तेरे दिव्य दर्शन नहीं होते। पदार्थोंमें पदार्थकी ही अनुभूति होती है, तेरी नहीं। क्यों ? कारण समझमें नहीं आता। जब तू ही इनकी उत्पत्ति, संचालन तथा व्यवस्था करता है और स्वतः उनके अन्तरतममें निवास करता है, तब फिर तू लक्षित क्यों नहीं होता ? तेरा काम तू ही जाने।

× × ×

प्रेमास्पद ! रात्रिकी नीरवतामें यह कैसी ध्वनि ? क्या पदचाप है ? नहीं। अथवा वायुका आलाप है ? नहीं। किंवा किसलयका संगीत है ? नहीं। भ्रमरका गीत है ? कदापि नहीं। फिर यह कैसा गुञ्जन ? कार्य-कारणकी परम्पराका तो अटल नियम है—यदि कार्य है तो कारण होगा ही। यह मधुर आलाप हृदयको आनन्दसे उद्वेलित कर देता है। अरे ! रात्रिकी इस नीरवतामें भी कोई मेरे साथ है !! वह धीरेसे, प्रत्युत मौनभावसे पुकार रहा है !!! 'देखो, मेरी ओर देखो—इस एकान्तमें भी—इस गहन अन्धकारमें भी मैं, केवल मैं तुम्हारे साथ हूँ।' यह मूक वाणी समझनेकी

क्षमता मुझमें कहाँ। सुनी-अनसुनी कर देता हूँ। प्रेमास्पद उदास हो जाते हैं, पर वे धैर्य नहीं छोड़ते। उनका मर्मभरा संगीत पुनः सुनायी पड़ता है, तब मैं पुनः चौंक पड़ता हूँ। यह क्या? चन्द्रकी ज्योत्स्ना तेरी ही है, तारोंका प्रकाश तेरा ही है, रात्रिकी नीरवता तेरी ही है और इस नीरवताकी ध्वनि भी तेरी ही है। प्रेमास्पद! तू बड़ा मृदुल है, अत्यधिक मधुर है, सुन्दरताकी चरम सीमा है, आनन्दका अपार स्रोत है, पर तू स्वयं क्या है, इसे कौन जाने? तेरा काम, तू ही जाने।

× × ×

न जाने मैं क्या-क्या कह गया। तू बुरा न मानना। तू मुझसे प्रेम करता है और मैं न प्रेमकी भाषा समझता हूँ और न प्रेमकी परिभाषा ही जानता हूँ। फिर कैसे एकीकरण हो? तेरा प्यार भी क्या है—एकदम निर्लिप्त, पूर्ण निष्काम, कोई अपेक्षा नहीं, कोई चाह नहीं, केवल प्यार करना चाहता है। ऐसा प्रेम न देखा न सुना, फिर कैसे समझमें आये? मैं सशङ्क दृष्टिसे तेरी ओर देखता हूँ और तू खिलखिला पड़ता है। मैं हतप्रभ हो जाता हूँ। इतनी बुद्धि नहीं कि इस गहराईको छू सकूँ। मैं हारकर तेरी शरण लेता हूँ। परंतु तू है कहाँ? कहीं नहीं। केवल रात्रिकी नीरवता, एकदम शिथिल टिमटिमाते तारे, स्वच्छ चाँदनी और मन्द वायु! तेरा कहीं पता नहीं!! मैं पुनः छला गया!!! तेरा खेल, तू ही जाने।

× × ×

अतीतकी स्मृति। मेरा बाल्यकाल था। अस्वस्थ हो गया था। शरीर अवाँकी भाँति तप रहा था। रात्रिके समय निवेदन किया—'स्वामिन्! कई दिनोंसे कष्टमें हूँ। यदि स्वस्थ करना चाहते हो तो ये श्रद्धा-सुमन ग्रहण करो।' फूलोंसे भरा एक दोना सिरहाने रखकर सो गया। स्वप्नमें देखा—तू आया और इठलाता हुआ आया और फिर फूलके दोनेको उलट दिया। मैं हतप्रभ था। ग्रहण करनेकी जगह उपेक्षा! दिल भर आया। तत्काल निद्रा टूटी। देखता हूँ—पुष्प बिखरे पड़े हैं, पर तेरा कहीं पता नहीं। दूसरे दिन स्वस्थ था। तेरे इन खेलोंसे अभ्यस्त हो गया हूँ।

पुनः बचपनकी याद आती है। दस वर्षका रहा हूँगा। एक पथपर अकेला जा रहा था। एक छोटी डिबिया मार्गमें मिली। कौतूहलवश उसे उठाकर खोला। अरे! उसमेंसे एक कीट उछलकर बाहर आया। थोड़े समयमें ही उसने एक मनुष्यका रूप धारण कर लिया। मैं आश्चर्यचकित था। उस व्यक्तिने दीक्षाके मन्त्र बताये। मैं तुरंत भूल गया। एक नहीं, तीन बार उस मन्त्रकी आवृत्ति करानेकी कोशिश की, पर मैं भुलक्कड़ भला कैसे याद रख सकता! एक क्षणमें सब कुछ तिरोहित हो गया। अरे! यह तो स्वप्न था, कहीं कुछ नहीं। मैं मन्त्रके बारेमें सोचता रहा; पर कुछ भी तो याद न आया, सिवा चार भाइयोंके नामके। हाय! उनका नाम भी ठीकसे स्मरण न रह सका। दस वर्ष बाद गुरुदेवसे दीक्षा मिली। आश्चर्य, महान् आश्चर्य, दीक्षाका वही बीजमन्त्र, जो स्वप्नमें बताया गया था। स्वप्नमें प्राप्त मन्त्र और प्रसङ्ग एकदम याद आया और आँखें भर आयीं। मेरे प्यारे! तेरे खेलके अनेक रूप देखे, इन्हें मैं कैसे समझूँ? पर इससे क्या? ज्ञान कराना तेरा काम है। तू जाने, तेरा काम जाने।

× × × ×

एक स्वर्णिल संसार। मैं उपवनमें जा रहा था, सहसा तू दिखायी पड़ा—बाल-गोपाल तथा दाऊजीके साथमें। मोर-मुकुट, काछनी, कङ्कण, केयूर, करधनी तथा वंशी धारण किये हुए तेरा अप्रतिम सौन्दर्य, तेरा तेजोमय मुखमण्डल, प्रकाश-पुञ्जसे दीप्त आभा, मधुर हास्य, प्रेमपूर्ण नेत्र, सुन्दर भ्रूकुटि और क्या-क्या नख-शिख वर्णन करूँ! तूने तिरछी चितवनसे देखा। मैं सुध-बुध खो बैठा। बाह्य संज्ञा समाप्त हो गयी। मन्त्र-मुग्ध होकर तेरे पीछे चलने लगा। देखते-देखते अनगिनत व्यक्ति तेरे पीछे हो लिये। कोई तुझसे न तो कुछ कहता और न तू ही बोलता था। केवल तेरे अतीन्द्रिय सौन्दर्यसे सभी अभिभूत थे। और फिर तू ठहरा छलिया—यदा-कदा तिरछी चितवनसे हमें निहार लेता था, पुनः हम आत्म-विभोर हो आनन्दके स्रोतमें बह जाते थे। एक स्थानपर पहुँचकर तू रुक गया। तेरा रुकना मानो संसारका रुकना हो गया। वायुकी गति मन्द हो गयी, चिड़ियोंकी चहचहाट बंद हो गयी, सूर्य और चन्द्र निश्चल हो गये। व्यक्तियोंका समूह स्तब्ध था। किसीको कुछ भी बात करनेका साहस न था। पुनः एक क्षण बाद निद्रा टूटी। मैं पछताकर रह गया—तेरा स्पर्श क्यों नहीं कर लिया, तुझे पकड़ क्यों नहीं लिया, तुझसे बात क्यों नहीं कर ली, तेरी इच्छा क्यों नहीं जान ली? पर अब इन बातोंसे क्या? अवसरपर चूक गया

और कदाचित् तू चाहता भी यही था, तभी तो मुझे मुग्ध रखा। विचार करनेका अवसर ही कहाँ दिया, आखिर तू ठहरा छलियोंका सिरताज।

× × × ×

पुनः बचपनकी एक स्मृति। मैं एक छोटी-सी पाठशालामें पढ़ता था। पास ही एक मन्दिर था, जहाँ भागवतकी कथा हो रही थी। कृष्णलीला सुनकर कई बार रोमाञ्च हो आया—कितना है नटखट यह खिलाड़ी! क्या इसके दर्शन कभी हो सकेंगे? मन्दिरके पुजारीसे बातचीत की। उसने बताया कि कृष्णके चार हाथ थे और वह मुझे इस रूपमें उनका दर्शन करा सकता है। मैंने श्रद्धावनत होकर उनसे प्रार्थना की कि मुझे इस रूपका दर्शन करा दें। दिवसकी मध्य वेलामें दिखानेके लिये उन्होंने वचन दिया। मैं आनन्दमग्न, अत्यधिक प्रसन्न होकर पाठशाला गया—पढ़नेमें मन नहीं लगा। मध्यदिवस होनेपर कक्षा छोड़कर पुजारीके पास आया। वह मुझे मन्दिरके भीतर ले गया। मैं बहुत उत्सुकतासे प्रतीक्षा कर रहा था। पर वे गीताप्रेससे छपी श्रीमद्भगवद्गीताकी एक प्रति ले आये। उसमें श्रीकृष्णके चतुर्भुज रूपका चित्र छपा था। पुजारीने उसे खोलकर मुझे दिखाया। कितनी गहरी निराशा हुई—इसका आभास या तो मुझे ही है या फिर प्रेमास्पद तुझे हो। दिल मसोसकर रह गया। आशा थी, तेरे दर्शन होंगे; पर यहाँ तो चित्रसे ही संतोष करना पड़ा। तू नटखट! मेरे विश्वाससे खेलता है!!

× × × ×

आनन्दमय! कितने दिनोंसे तेरा लुका-छिपीका प्रहसन चल रहा है। जब मैं तेरी ओर उन्मुख होता हूँ, तब तू एकदम तिरोहित हो जाता है, तेरा आभासतक नहीं मिलता, तेरा अस्तित्व ही संदिग्ध मालूम पड़ने लगता है। प्रेमास्पद! इस अन्तिम वाक्यपर तू क्रुद्ध हो गया? इसमें नाराज होनेकी कोई बात नहीं। मैं तो अपने हृदयका भाव उँडेल रहा था। पर यदि तुझे यह कथन नापसंद है तो इस वाक्यको मैं हटा देता हूँ। जरूर मुझसे त्रुटि हुई है। अभीतक तेरे मुखपर हास्यका विलास नहीं है, अभीतक तू इस बातपर रुष्ट ही है। पर मैं कहाँ अविश्वास करता हूँ? क्या मैं अपने अस्तित्वपर अविश्वास कर सकता हूँ! करना भी चाहूँ तो क्या कर सकूँगा! आजतक कोई कर सका है! वस्तुतः यह लिखना भी कब चाहता था? केवल तेरे खेलोंसे तंग आकर सहसा यह वाक्य लिख गया हूँ। प्रेमास्पद! तू क्रुद्ध मत होना। मैं तो युग-युगसे तेरा ही हूँ और तेरा ही रहूँगा। लो, अब तू दिखायी पड़ा प्रसन्न मुद्रामें। तू पुनः उसी हास्य मुद्रामें खिलखिला पड़ा। ऐसा प्यार नहीं देखा और न ऐसा प्रेमास्पद ही। हाँ, तो मेरी बात अधूरी रह गयी। अब मैं तेरी ओरसे उदासीन हो जाता हूँ, तेरे बारेमें कोई विचार नहीं करता तो तू सहसा चुपचाप आकर बैठ जाता है। मैं आह्लादित हो उठता हूँ। पुनः तेरी ओर उन्मुख होता हूँ, पर फिर तू भागता-सा प्रतीत होता है। मैं पीछा करता हूँ, परंतु भागनेवालेको कौन पकड़ पाता है! सहसा सब कुछ विलीन हो जाता है। तेरा कोई पता नहीं चलता; आखिर पता बतानेका काम भी तो तेरा ही है। तू जाने, तेरा काम जाने।

× × × ×

आज होली है। चारों ओर होलिकोत्सवकी धूम है। रंग-गुलाल उड़ायी जा रही है। लोगोंकी प्रसन्नताका आर-पार नहीं। बच्चे रंगकी पिचकारी लिये भाग रहे हैं। उनका आनन्द सीमाके पार जा रहा है। पर मेरा हृदय रिक्त क्यों है? कुछ अतीतकी स्मृतियाँ याद आ रही हैं। इसी दिवसको तूने प्रह्लादकी रक्षा की थी, आग भी उसे जला न सकी। उसमें तेरा प्रभाव था अथवा प्रह्लादका असीम विश्वास—शब्दोंसे कह नहीं सकता; कदाचित् प्रह्लादका विश्वास और तेरा प्रभाव—दोनों ही अपनी-अपनी जगह काम कर रहे हों। आज हमलोग उस पर्वको होलिका जलाकर मनाते हैं, पर भावरहित होकर। हृदय तेरे कारुण्यकी ओर उद्वेलित नहीं होता। भावनाओंमें पंख नहीं होते, जो तुम्हारी ऊँचाईको छू सकें। आखिर यह कैसे हो! क्या तुझमें कारुण्य-वृत्तिका अभाव हो रहा है! ऐसी बात होनी नहीं चाहिये। हममें अवगुण बढ़ गये हैं, यह सत्य है; पर क्या उन अवगुणोंको देखकर तू भी बदलेगा! यह असम्भव है, यह तूने कभी नहीं किया; फिर आज ही क्यों करने लगा! अवश्य ही कहीं मेरे समझनेका फेर है—क्या कभी समझा देगा! तेरी इच्छा; जब चाहे, बता देना।

× × × ×

अतीतकी स्मृति। तेरी खोजमें सरयूके तीर प्रतिदिन जाया करता था। घाटपर पीपल, बरगद तथा मौलिश्री आदिके वृक्ष थे। उनपर बैठे पक्षी कलरव किया करते थे।

क्या वे तेरा गीत गाते थे ? कह नहीं सकता । सरयू अब भी उसी मन्थर गतिसे बह रही है । कभी तू उसके किनारे नाना प्रकारके खेल खेलता था, अपना और अन्य मित्रोंका मनोरञ्जन करता था—क्या लच्छी-डाँड़ी भी खेलता था ? देखो ! बरगदकी यह शाखा इस खेलके लिये कितनी उपयुक्त है । अवश्य तूने इस खेलको कहीं खेला होगा, तेरे पीछे बालक-वृन्द भागे होंगे और तूने भी उन्हें दौड़ाया होगा । तेरे हार जानेपर लोगोंने तालियाँ भी पीटी होंगी और सम्भवतः तूने भी विनोदमें उनका साथ दिया होगा । मौलिश्रीका यह पेड़ ! अवश्य तू इसपर बैठा रहा होगा । इसकी डालोंपर तेरे चरण-चिह्न अब भी देखे जा सकते हैं । आह ! कितना मनोरम दृश्य रहा होगा—कितने आनन्दकी गहरी अनुभूति रही होगी ? तेरी मन्द चाल, तेरी तेज दौड़, तेरी मधुर बातें, तेरा मन्द हास्य एवं तेरे विचित्र खेल ! जिसने भी इन्हें देखा होगा, उसके भाग्यके बारेमें क्या कहना ? क्या उसकी कल्पना भी मैं कर सकता हूँ ? ओह ! इस डालीपर तो तू बैठा है !! धृष्टताके साथ हँस रहा है !!! मैं आश्चर्यचकित था । क्या इतना आसान है तुझे देखना ? तुझे छूनेकी लालसासे आगे बढ़ रहा हूँ; पर वाह, यह क्या ! तू गायब हो गया !! कहीं पता नहीं !!! एक बार पुनः धोखा खा गया । प्रेमास्पद ! करता जा खेल—देता जा धोखा । देखता हूँ, तेरा यह गोरखधंधा कबतक चलता है । मैं भी आसानीसे पिंड छोड़नेवाला नहीं । कहाँतक भागेगा ? हर चाहनेवालेसे तुझे हार माननी पड़ी है—क्या मैं अपवाद हूँ ? कदापि नहीं, यह सम्भव नहीं । कभी तो तू आयेगा ही और पुनः तेरा वियोग नहीं होगा । यह आशा बनी हुई है और इसीके सहारे जी रहा हूँ । देखता हूँ, तेरी दयादृष्टि कब होती है ? देर-सबेर खयाल करेगा ही ।

इतिहासके अन्वेषणमें चित्रकूट गया । भला, उस पावन भूमिपर मैं इतिहासका अन्वेषण क्या करता ? मैं तो वहाँ पहुँचकर ही धन्य हो गया । इस भूमिके कण-कणमें तेरे चरण पड़े होंगे । यहाँकी रज पावन हो गयी है । जी चाहता है, इसमें लोट जाऊँ । मन्दाकिनी मन्द गतिसे बह रही है । इसमें तूने कई वर्षोंतक स्नान किया होगा, इसका जल पिया होगा, उसे आचमन किया होगा और यह मन्दाकिनी क्षुद्रसे पावन बन गयी । ऐसा है प्रताप तेरा ! क्या मेरे हृदयकी मन्दाकिनीमें भी अवगाहन करेगा—उसे क्षुद्रसे पावन बना देगा ? पर यह सब कब करेगा ? तेरी सदाशयता, जब चाहे तब करे, मैं तो अभी तेरी मन्दाकिनीके पवित्र जलसे अभिषिक्त हो रहा हूँ ।

कामदगिरिकी परिक्रमा । यहाँ तू कई वर्षोंतक रहा । ऊपर चढ़कर देखनेकी कोशिश करता हूँ—शायद तेरी कुटीका कुछ अवशेष दीख जाय । कदाचित् पाकड़, पीपल, जम्बू, रसाल तथा बरगदके वे पेड़ दिख जायँ, जहाँ बैठकर मुनियोंकी मण्डली तेरे सत्सङ्गका लाभ उठाती थी । अवश्य वह स्थान यहीं कहीं होगा । उन पेड़ोंका पता तो नहीं लगा; रामकुटीके भी अवशेष नहीं दीखे; पर इससे क्या ? स्थान तो वही है, जहाँ तूने निवास किया था, जहाँ तूने ऋषियोंको आश्वासन दिया था, जहाँ तूने पादुका देकर भरतजीके मनको सहलाया था । उस पावन रजको लेकर माथे लगा लिया और परिक्रमामें व्यस्त हो गया । लोगोंका कथन है कि 'कामदगिरि भक्तोंकी इच्छा पूरी करते हैं। एक इच्छा मेरी भी है । क्या वह पूरी हो जायगी ? अस्तु, उसे व्यक्त करनेमें क्या हर्ज ? मुझे प्रियतमका प्रेम चाहिये । देखो कामद ! तुमसे कहता हूँ तुमने बहुतोंकी इच्छा पूरी की है, तुम स्वामीको अपने सिरपर धारे रहे हो—इनके साक्षी रहे हो । तुम्हारी बात वे कभी नहीं टालेंगे । उनसे मेरी ओरसे निवेदन करना । मुझे आशा है, वे तुम्हारी बात अवश्य मानेंगे । यदि ऐसा कर पाये तो तुम्हें पुष्प-माल चढ़ाऊँगा ।' कामदगिरिसे प्रार्थना तो कर आया । देखो, कहाँतक सुनवाई होती है । समय बता देगा ।

और क्या कहूँ ? लंबी चढ़ाईके बाद हनुमानगढ़ीपर पहुँचा । हनुमान्‌जीकी पूजाके बाद आशीर्वाद देते हुए पंडा कह रहा था—'देखो हनुमान्‌जी ! इनकी इच्छा पूरी करना ।' वह ठीक ही तो कहता था, यहीं तो पवनपुत्रने तुलसीदासजीकी इच्छा पूरी की थी । क्या वे मेरे ऊपर भी दया करेंगे ? उनसे मैं सहमा रहता हूँ । सुना है, वे थोड़ा नीति-भङ्ग भी सहन नहीं कर सकते । मेरे जैसे अनीतिमय लोगोंके साथ उनका क्या रुख होगा, वे ही जानें । कुछ भी हो, इतना तो निश्चित है कि मेरे कार्योंसे क्षुब्ध होनेपर भी वे क्रोधित नहीं होंगे, इसीलिये कि स्वामीके गुण सेवकमें अवतरित हो ही जाते हैं । धीरे-धीरे वे भी पिघल ही जायँगे । यह विचार कर आशीर्वाद और प्रसाद ले लिया और मैं प्रणाम कर वापस आया ।

भरतकूप वह स्थान है, जहाँ भरतजीने अनेक तीर्थोंके जल डाले थे, उसे उन्होंने राममन्त्रसे अभिषिक्त किया था और जहाँ सर्वप्रथम उन्होंने ही आचमन किया था। स्फटिक-शिला वह स्थान है, जहाँ मनोरम दृश्य है, जहाँ मन्थर गतिसे मन्दाकिनीजी बहती हैं, जहाँ चारों ओर घनघोर जंगल हैं, जहाँ झाड़ियों-झुरमुटोंकी गहनता है, जहाँ प्रस्तरपर कुछ निशान है, जिन्हें प्रभुके चरण-चिह्न कहा जाता है। भरतकूप तथा स्फटिकशिलाका दर्शन करके पुनः अत्रि-अनसूया-आश्रमकी ओर बढ़ चला। नंगे पाँव यात्रा हो रही थी। कंकड़-पत्थर लग रहे थे। झलके निकल आये। पर पीड़ा नहीं थी, चुभन नहीं थी; थी केवल प्रेमास्पदकी याद, जो लगातार कई वर्षोंतक इन कंकड़-पत्थरोंसे ठोकर खाते रहे। कितना कष्ट उठाया स्वामीने! काश, मैं उनके मार्गका फूल बन जाता। अत्रि-अनसूया-आश्रम है नितान्त एकान्त स्थानपर, जहाँ है अत्यन्त शान्ति। प्रभु अब भी यहाँ विराजमान हैं—देखनेके लिये आँखें चाहिये। काश, वे ऐसी आँख दे सकते। वापस लौट आया, पर दिल वहीं लगा रहा। इतिहासका क्या अन्वेषण करूँ? अन्वेषण तो तेरा करना है, जब चाहे करा दे। है यह तेरा काम—तू जाने, तुम्हारा काम जाने।

× × × ×

मानसिक शान्ति नहीं है। यह अवसाद कहाँसे घेरे रहता है? क्या मेरी अपरिमित वासनाओंके कारण हैं अथवा अतृप्त इच्छाओंके कारण? कदाचित् दमित विचार ही कष्ट दे रहे हों। वस्तुतः यह दुःख अज्ञानकी तहमें है। यदि इनके कारण ज्ञात हों तो उनका निवारण भी हो सकता है; पर कारणका ही पता नहीं है। मेरी बुद्धि तीव्र नहीं है, विवेक कुण्ठित है, विचारशक्तिका अभाव है। क्या तू मेरी सहायता करेगा? तेरा आदेश यह कि उलझे विचारोंकी विवेचना करूँ। एक सामान्य दुःख हृदयमें घर कर गया; एक रिक्तताकी अनुभूति है, रोजमर्रेका ढर्रा है। कहीं कोई परिवर्तन नहीं, उत्साहका अभाव। जीवन जैसे एक चौराहेपर आकर रुक गया हो। बुद्धि मानो तमसाच्छन्न हो गयी है। निद्रा, आलस्य तथा दीर्घसूत्रतामें मैं आकण्ठ डूब गया हूँ। विचार कहाँतक करूँ, जब विवेक ही नहीं है? विश्लेषण कैसे करूँ, जब बुद्धि ही स्थूल है! एक विसंगति जीवनको रिक्त कर रही है, मस्तिष्कको अज्ञानके तहमें ढकेल रही है, उस अनुभूतितक पहुँचा देती है, जहाँ विचार कुण्ठित हो जाता है, सोचनेकी शक्ति मारी जाती है, विवेकका प्रश्न ही नहीं उठता। एक खालीपन, जहाँ न सुखका बोध और न दुःखका बोध; केवल जड़ता और उदासी। शक्तिके स्रोतके समाप्त हो जानेकी स्थिति। आखिर यह क्यों है? क्या यह तेरी ही इच्छा है? मैं इससे अधिक इसके तहमें नहीं पैठ सकता, अपनी निर्बल स्थितिके कारण। लोग कहते हैं, तू चाहे तो स्थिति सुधर सकती है। तू चाहता क्यों नहीं? चाहनेमें तेरे सामने कौन-सी कठिनाई है? आह! मैं तो चाहकर भी कुछ नहीं कर सकता और तू इच्छामात्रसे सब कुछ कर सकता है—तथापि यह अकरुणा क्यों? क्या तेरी शक्ति सीमित है? या मेरे किसी विकर्मके कारण उदासीन हो गया है? मेरी ऐसी क्या त्रुटि है जो सुधारी नहीं जा सकती? मैंने अपना हृदय उँडेल दिया, आगे तू जाने, तेरा काम जाने।

महावीर हनुमान्!

(रचयिता—श्रीगोपीनाथजी उपाध्याय, साहित्यरत्न)

रामसे है नेह, स्वर्ण-शैलके समान देह,
ज्ञानियोंमें अग्रगण्य, गुणके निधान हैं।
महाबलशाली हैं, अखण्ड ब्रह्मचारी, यती,
वायुके समान वेग, शौर्यमें महान हैं।
राघवके दूत बन लंकमें निशंक गए,
सीता-सुधि लाये, कपि-यूथके प्रधान हैं।
भक्त-प्रतिपाल, क्रूर दानवोंके काल-व्याल,
अंजनीके लाल महावीर हनुमान हैं।

आस्तिकताकी आधार-शिलाएँ

भगवान्‌को जीवनमें मुख्य वस्तु बनाइये !

जो हो रहा है, वह ठीक हो रहा है—यों समझकर सदा निश्चिन्त रहना चाहिये । एक क्षणके लिये भी अपना लक्ष्य नहीं भूलना चाहिये । मुझे इस जीवनमें भगवान्‌के पास पहुँचना है—अगर इस बातको कभी न भूलेंगे तो फिर अपने-आप जीवनकी सारी चेष्टाएँ भगवान्‌के लिये होने लगेंगी । वस्तुतः यहाँका कोई भी पदार्थ हमें इसीलिये साथमें रखना चाहिये कि उसके सहयोगसे भगवान्‌के मार्गमें अधिक-से-अधिक बढ़ा जा सके । जो पदार्थ हमें भगवान्‌से अलग हटाता हो, वह तो सर्वथा त्याज्य है, चाहे वह कितना ही प्रिय क्यों न हो । यह कोई पढ़-सुन लेनेकी बात नहीं है, भगवान्‌के इच्छुक भक्तोंको सचमुच इसका क्रियात्मक प्रयोग करना पड़ता है । अवश्य ही भगवान् परम दयालु हैं और वे अपने ऊपर निर्भर करनेवाले भक्तकी सब प्रकार सहायता ही करते हैं, किंतु कभी-कभी प्रेम-परीक्षाके लिये ऐसा अवसर भी मिला देते हैं, जब भक्तको एक ओर भगवान् तथा दूसरी ओर जगत्‌का प्रलोभन—इन दोनोंमेंसे किसी एक पथको चुनना पड़ता है । भगवान्‌के विश्वासी भक्त तो सारे जगत्‌का ऐश्वर्य ठुकराकर भगवान्‌को वरण करते हैं । अतः आपको भी सदा सावधान रहना चाहिये, जिससे भगवान् ही जीवनमें मुख्य वस्तु हों और उनके लिये यदि आवश्यकता हो तो सब कुछ छोड़ दिया जाय ।

जगत्‌के समर्थनकी चिन्ता न कीजिये

कलियुगका प्रभाव जैसे-जैसे बढ़ेगा, वैसे-वैसे भगवान्‌में विश्वास रखनेवालोंकी संख्या घटेगी । भगवद्-विश्वासी पुरुष मूर्ख समझे जायँगे । उन लोगोंकी सत्यमूलक चेष्टाओंका आदर होना तो दूर रहा, वरं निन्दा होगी । इसलिये 'जगत्‌के लोग मुझे क्या कहेंगे'—इस बातकी ओरसे दृष्टि कम कर लेनी चाहिये । यदि हमें कोई बात सत्य दीखे और उसका ही आचरण भगवदिच्छानुकूल प्रतीत हो तो वैसे ही करना चाहिये । जनसमुदायकी दृष्टि भी आदरणीय अवश्य है, यदि भगवदिच्छानुकूल हो; पर अपनी नीयतमें जो चेष्टा प्रभुको प्रसन्न करनेवाली जँचे, उसका समर्थन सर्वसाधारणके द्वारा न होनेपर भी उसे अवश्य करना चाहिये ।

श्रीकृष्णके प्रति आसक्ति बढ़ाइये

पाँच-पाँच मिनटपर भगवत्स्मरणकी चेष्टा करते हैं, पर भूल हो जाती है, सो इस विषयमें यह निवेदन है कि भूल होती है तो होने दें, पर चेष्टा करते ही चले जायँ । जबतक श्रीकृष्ण प्यारे नहीं लगते, तबतक भूल होगी ही । यह नियम है, सबसे प्यारी चीज भूलती ही नहीं । अभी श्रीकृष्णसे अधिक प्यारी चीज और कोई होगी, जिसके लिये श्रीकृष्णको भूल जाते हैं । श्रीकृष्णको याद करते-करते अपने-आप सब ओरका आकर्षण फीका पड़ जायगा और वे सबसे प्रिय लगने लगेंगे । फिर भूल नहीं होगी ।

भावपूर्ण पुकार सच्चे मनसे नहीं होती, यह ठीक है; पर इससे यह स्पष्ट है कि श्रीकृष्णकी अभी पूरी आवश्यकता नहीं प्रतीत हुई है । प्यासेको पानीकी पुकारके लिये कहीं सीखने जाना नहीं पड़ता, अपने-आप पुकार होती है; क्योंकि पानी उसके लिये अत्यन्त आवश्यक वस्तु है । वैसे ही श्रीकृष्ण जिस दिन परमावश्यक वस्तु बन जायँगे, उस दिन सच्चे मनसे उनके लिये पुकार होने लगेगी । श्रीकृष्णको याद करते-करते वे अपने-आप आवश्यक बन जायँगे । फिर पुकार होगी ।

भागवतके सप्ताह-पाठके समय नाम-जप कम हुआ, तो कोई बात नहीं। श्रीमद्भागवत तो भगवान्का स्वरूप ही है। नाम एवं पाठ दोनों ही भगवद्रूप हैं। कोई-सा हो, निरन्तर होना चाहिये। मनमें खाने-पीनेकी आसक्ति है, इससे चिन्तित मत होइये। बस, श्रीकृष्णके प्रति आसक्ति बढ़ाइये। श्रीकृष्णकी आसक्ति मोक्ष-सुखसे भी वैराग्य उत्पन्न कर देती है, खाने-पीनेकी आसक्ति तो तुच्छातितुच्छ बात है।

कृपाके लिये श्रीजीके चरणोंका चिन्तन करें

'श्रीजीकी मुझपर कृपा है, इसका अनुभव कैसे हो'—इसका उपाय आपने पूछा है। मेरी समझमें इसका सर्वोत्तम उपाय है—श्रीजीके चरणोंका निरन्तर चिन्तन। मन श्रीजीके चरणोंमें चिपककर ही श्रीजीकी कृपाका अनुभव कर सकता है। अत्यन्त प्रेमसे 'राधे-राधे' कहते हुए श्रीराधारानीके चरणोंमें मनको लीन कर दें। फिर ऐसी कृपाका अनुभव होगा कि आप निहाल हो जायँगे।

अपने भविष्यको सदा निर्मल देखो

संतोंके वचन हैं—'मालिक हैं साहेब सीताराम, सोच मन काहे को करे।' बस, निश्चिन्त रहिये। एक बहुत ऊँचे महात्माने कहा है—'अपने भविष्यको निर्मल देखो। सोचो कि प्रभु तुम्हें अवश्य मिलेंगे, चाहे तुम कितना ही अधम क्यों न होओ।' हमलोग भी ऐसा ही सोचें। सचमुच अपना भविष्य मलिन सोचना भगवान्की अपार दयाका अपमान करना है।

भगवान्के कृपामय स्पर्शकी प्रतीक्षा कीजिये

एक बात ध्यानमें रहनी चाहिये कि यदि लेशमात्र भी आकर्षण भगवान्के अतिरिक्त किसी और जगह होता है तो समझ लेना चाहिये, हम भगवान्के शरण हुए ही नहीं। वास्तविक शरणागति हो जानेपर आसक्तिका सर्वथा अभाव हो जाता है। किंतु घबराना नहीं चाहिये। जिस दिन साधककी यह अभिलाषा हृदयसे सम्बद्ध हो जाती है, उसी क्षण भगवान् शरणागति स्वीकार कर लेते हैं। एक बात और है। जिसपर भगवान्की अत्यधिक कृपा होती है, जिसे भगवान् अपने पास बुलाना चाहते हैं, वस्तुतः वही इस मार्गमें वाचिक शरणागति भी ग्रहण करता है। देखें, आपकी इच्छा पूरी भी हो सकती है और नहीं भी हो सकती; किंतु यह वाचिक शरणागति एक दिन उन्हींकी दयासे सच्ची शरणागतिमें परिणत हो जायगी। आप भगवान्की दयाका अलौकिकताका अंदाज नहीं लगा सकते। मानवी बुद्धि भगवान्की दया कैसी होती है, इसको नहीं समझ सकती। यही कारण है कि अपने माप (स्टैंडर्ड) से ही हम भगवान्को जाँचते हैं और दुःखी रहते हैं। अतः सब प्रकारकी चिन्ता छोड़कर उस दिनकी प्रतीक्षा करते रहें, जिस दिन भगवान्के कृपामय स्पर्शका अनुभव करके आप कृतार्थ होनेवाले हैं।

संतके साथ शुद्ध पारमार्थिक सम्बन्ध ही रहे

जीवनका उद्देश्य यदि भगवान् हैं तो फिर किसी भी जागतिक प्रलोभनमें नहीं भूलना चाहिये। भगवान् श्रीकृष्णने राजा मुचुकुन्दको स्वयं प्रलोभन देकर जाँचा; किंतु मुचुकुन्दने भगवान्की ही दयासे भगवान्को लिया, भोगोंको नहीं। उसी प्रकार संतके साथ सर्वथा शुद्ध पारमार्थिक सम्बन्ध ही रहे।

पतितपावनी श्रीगङ्गाजी

(लेखक—पं० श्रीशिवनाथजी दुबे)

'ॐ नमो गङ्गायै विश्वरूपिण्यै नारायण्यै नमो नमः ।'

'भगवान् श्रीनारायणसे प्रकट हुई विश्वरूपिणी गङ्गाजीको बारंबार नमस्कार है।'*—महर्षि व्यास।

बृहन्नारदीय पुराणके गङ्गा-माहात्म्यमें एक कथा आती है। राजर्षि भगीरथके वंशमें सुदास नामक एक नरेश थे। समस्त धर्मोंके ज्ञाता एवं पवित्र मनवाले राजा मित्रसह सुदासके पुत्र थे। मित्रसह अपनी प्रजाके पालनमें सदा तत्पर रहते थे। प्रजा उनके शासनमें प्रत्येक दृष्टिसे सुखी थी।

एक बारकी बात है। सौदास (राजा मित्रसह) अपने सैनिकोंके साथ आखेटके लिये वनमें गये। तृषाधिक्यसे वे रेवाके तटपर पहुँचे और मन्त्रियोंके साथ स्नान तथा भोजनादिसे निवृत्त हो उन्होंने वहीं रात्रि व्यतीत की।

दूसरे दिन नित्यकर्मसे निवृत्त होकर वे अपने मन्त्रियोंके साथ नर्मदातटवर्ती वनमें जानेके विचारसे इधर-उधर घूम रहे थे कि संयोगवश एक वनसे दूसरे वनमें प्रवेश करते समय वे अपने सैनिकों एवं सचिवोंसे बिछुड़ गये। वहाँ उन्होंने एक कृष्णसार मृग देखा। राजा मित्रसहने धनुषकी प्रत्यञ्चापर तीक्ष्ण शर रक्खा और उसे कानोंतक खींचकर उस मृगके पीछे दौड़ पड़े। अश्वारूढ़ नरेशने कुछ आगे जाकर गुफामें मैथुनरत व्याघ्र-दम्पतिको देखा। उन्होंने मृगकी चिन्ता छोड़ उक्त शर व्याघ्रीपर छोड़ दिया। व्याघ्रीके चीत्कारसे सम्पूर्ण वन-प्रान्त गूँज उठा।

उस समय एक आश्चर्यजनक घटना हुई। उक्त व्याघ्रीने भयानक राक्षसीका रूप प्रकट किया और वह छटपटाकर मृत्यु-मुखमें चली गयी।

'मैं तुमसे बदला लूँगा।' दुःखके आवेग एवं द्वेषाग्निमें जलते हुए उसके राक्षस पतिने कहा और वह वहीं अदृश्य हो गया।

राजा मित्रसह भयाक्रान्त हो गये। सैन्य-शिविरमें लौटकर वे मन्त्रियों तथा सैनिकोंसहित अपनी राजधानीको लौट आये और फिर उन्होंने आखेट खेलना ही बंद कर दिया।

बहुत दिनों बाद धर्मपरायण नरेश मित्रसहने वसिष्ठ आदि महर्षियोंके साथ अश्वमेध यज्ञका अनुष्ठान किया। यज्ञ सविधि सम्पन्न होनेपर महर्षि वसिष्ठ यज्ञ-मण्डपसे बाहर चले गये और राजा मित्रसह भी अवभृथ स्नान कर वहाँसे चले आये।

'मैं मांस खाना चाहता हूँ।' उसी समय प्रतिहिंसाकी ज्वालामें झुलसते हुए उक्त राक्षसने महर्षि वसिष्ठके रूपमें राजाके समीप पहुँचकर कहा। इतना ही नहीं, उस द्वेषी राक्षसने रसोइयेके वेषमें मनुष्यका मांस बनाया और राजाको दे दिया।

महर्षि वसिष्ठके लौटनेपर धर्मात्मा नरेशने वह मांस सुवर्ण-पात्रमें अत्यन्त आदरपूर्वक उनके सम्मुख उपस्थित किया।

'मूर्ख नरेश!' कुछ देरतक विचार करनेके अनन्तर नर-मांसका विश्वास होते ही क्रुद्ध होकर वसिष्ठजीने कहा—'तूने मुझे राक्षसोंका भोजन दिया है, अतएव तू इसे खानेवाला राक्षस हो जा।'

'महाराज! इसके लिये तो आपने ही आज्ञा प्रदान की थी।' भय-विह्वल नरेशके उत्तरसे वसिष्ठजीने दिव्य दृष्टिसे देखा तो उन्हें राक्षसका छल विदित हुआ।

'आपने मुझ निरपराधको कठोर दण्ड दिया है।' मित्रसह नरेशने दुःखावेशमें वसिष्ठजीको शाप देनेके लिये हाथमें जल उठा लिया।

'धर्मपरायण क्षत्रियनरेश! क्रोध शान्त कीजिये।' उसी क्षण मित्रसहकी साध्वी पत्नीने अपने पतिको रोकते हुए निवेदन किया 'आपको अपने अपकर्मका प्राप्तव्य फल ही प्राप्त हुआ है। अब आप गुरुको शाप न दें, यह भयानक पाप होगा।'

'यह शापार्थ जल कहाँ फेंकूँ?' सहधर्मिणीके सत्परामर्शका सम्मान करते हुए राजाने कुछ देरतक विचार किया और फिर वह जल अपने पैरोंपर छोड़ दिया। उस जलके पड़ते

* यह गङ्गाजीका मूल मन्त्र है। इसे साक्षात् श्रीहरिने बतलाया है। इसका एक बार भी जप करके मनुष्य पवित्र हो जाता तथा श्रीविष्णुके श्रीविग्रहमें प्रतिष्ठित होता है। (प० पु०, सृ० खं०)

ही उनके पैर चितकबरे हो गये। उसी क्षणसे वे राजा कल्माषपादके नामसे प्रख्यात हुए।

'भगवन्!' कल्माषपादने हाथ जोड़कर अत्यन्त आर्तस्वरमें गुरु वसिष्ठजीसे निवेदन किया—'आप कृपापूर्वक मेरे सारे अपराध क्षमा करनेका अनुग्रह करें।'

'राजन्!' पश्चात्ताप करते हुए दुःखी मनसे वसिष्ठजीने उत्तर दिया—'तुम तो सर्वथा निर्दोष थे। मैंने ही विवेक खो दिया। यदि तुम मुझे शाप दे देते तो अच्छा ही करते। किंतु तुम्हें यह शाप केवल बारह वर्षतक ही लगेगा। इसके अनन्तर तुम परब्रह्मस्वरूपिणी गङ्गाजलकी बूँद पड़ते ही राक्षसी कायासे मुक्त होकर पुनः पूर्ववत् पृथ्वीका उपभोग करोगे।'

> तद्बिन्दुसेकसम्भूतज्ञानेन गतकल्मषः।
> हरिसेवापरो भूत्वा परां शान्तिं गमिष्यसि॥
> (बृहन्नारदीय पु०, गङ्गा-माहा० २। ४५)

'गङ्गाजलके अभिषेकसे तुम्हें ज्ञान प्राप्त होगा, तुम्हारे सारे पाप नष्ट हो जायँगे और तुम हरि-सेवा कर परम शान्ति प्राप्त करोगे।'

इतना कहकर महर्षि वसिष्ठ अपने आश्रमके लिये प्रस्थित हुए और राजा कल्माषपादकी भयानक काली आकृति हो गयी। वे निर्जन वनमें जाकर अत्यन्त क्षुधा-पिपासासे व्याकुल होकर निर्ममतासे मृग, मनुष्य, सर्प और बड़े-बड़े बंदरोंको पकड़-पकड़कर खाने लगे। छः महीनेमें उक्त वनके समस्त प्राणियोंको खाकर वे दूसरे वनमें जाकर मनुष्योंका मांस खाने लगे।

इस प्रकार वे नर्मदाके तटपर पहुँचे, जहाँ ऋषियों एवं सिद्ध पुरुषोंके आश्रम थे। वहाँ राक्षसके रूपमें राजा कल्माषपादने अपनी प्रियतमाके साथ अङ्ग-सङ्ग करते हुए एक मुनिको देखा। क्रोधोन्मत्त राक्षसने तुरंत उक्त मुनिको पकड़ लिया।

'राजन्! आप राक्षस नहीं हैं, आप सूर्यवंशोत्पन्न नरश्रेष्ठ मित्रसह हैं।' अत्यन्त भयभीत होकर ब्राह्मणी (मुनि-पत्नी) ने विनयपूर्वक निवेदन किया। 'आप निष्ठुर कर्म न करें। मुझे वैधव्य न प्रदान करें। स्त्रीके लिये वैधव्यसे बड़ी विपत्ति और कुछ नहीं है। मैं माता-पिता एवं भाईसे रहित, छोटे बच्चेकी माँ हूँ। आप मुझपर और इस अनाथ शिशुपर दया करें।'

'राक्षस! तूने रतिमें आसक्त मेरे प्राणपतिको मार डाला।' ब्राह्मणी राक्षसके चरणोंपर गिर पड़ी थी; किंतु फिर भी निर्दय राक्षसने उसके पतिको आत्मसात् कर लिया। तब उसने कुपित होकर उसे शाप दे दिया, 'अतएव तू भी स्त्री-प्रसङ्गके अवसरपर कालके गालमें चला जायगा।'

ब्राह्मणीने एक और शाप दिया—'तुमने मेरे जीवन-सर्वस्वको खा लिया है, अतएव तेरा राक्षसत्व भी अविचल रहेगा।'

'दुष्टे! मैंने एक ही अपराध किया था, किंतु तूने मुझे दो शाप दे दिये!' राक्षस (कल्माषपाद) ने क्रोधोन्मत्त होकर कहा—'अतः तू भी अपने पुत्रसहित राक्षस हो जा।'

उक्त शापके प्रभावसे ब्राह्मणी भी अपने पुत्रसहित राक्षसी हो गयी। वह पुत्रके साथ राक्षसी क्षुधासे व्याकुल होकर रोने लगी।

इस प्रकार शापोपहत वह राक्षस तथा सपुत्र राक्षसी क्षुधाकी ज्वालासे कष्ट पाते हुए पवित्र नर्मदाके तटपर स्थित एक बरगदके वृक्षके पास पहुँचे। उक्त वृक्षपर गुरुकी उपेक्षाके कारण एक राक्षस आसुरी शरीर प्राप्तकर कष्ट पाता हुआ निवास करता था।

'भयानक राक्षसो! तुम यहाँ क्यों आये? राक्षसत्रयको देखते ही उक्त वटवृक्षनिवासी राक्षसने अत्यन्त क्रुद्ध होकर पूछा। 'तुमलोगोंने कौन-सा भयानक पाप किया था, जिसके कारण तुम्हारी यह दुर्दशा हो रही है?'

'आप भी कृपापूर्वक बतलानेका कष्ट कीजिये कि आप कौन हैं।' सुदास-पुत्र मित्रसहने अपने तथा ब्राह्मणीके अपराधोंको बतलाते हुए उससे पूछा। 'आपको यह दुर्गति क्यों भोगनी पड़ी है?'

'मैं पूर्वजन्ममें मगधवासी वेदज्ञ ब्राह्मण था।' ब्रह्मराक्षसने उत्तर दिया। 'मेरा नाम सोमदत्त था। एक बारकी बात है, मैं आशुतोष शिवकी पूजा कर रहा था। उसी समय मेरे गुरुजी आ गये। शिव-पूजामें संलग्न होनेके कारण मैंने उन्हें प्रणाम नहीं किया। मेरे द्वारा मन्त्रशास्त्रोक्त कार्य किये जानेपर मेरे अत्यन्त बुद्धिमान् और तेजस्वी गुरु प्रसन्न हुए, किंतु जगद्गुरु भगवान् शंकरने गुरुकी अवज्ञाके कारण क्रुद्ध होकर मुझे राक्षस बना दिया।'

अत्यन्त दुःखी राक्षसने आगे कहा—'मैंने अबतक सहस्रों ब्राह्मणोंको खा लिया है, किंतु क्षुधा-तृषाकी ज्वालासे निरन्तर छटपटाता ही रहता हूँ । भगवान् शंकरके इस दुस्सह शापसे पता नहीं, कब त्राण प्राप्त हो ?'

'हमारा भोजन आ गया ।' सहसा राक्षस और पिशाची एक ब्राह्मणको अपनी ओर आते देखकर दौड़ पड़े । ब्राह्मण देवता कलिङ्गदेशके निवासी थे । गर्ग नाम था उनका । उन्होंने अपने कंधेपर गङ्गाजल ले रखा था और वे मन-ही-मन विश्वाधार प्रभुका ध्यान करते हुए उनके मङ्गल नामका कीर्तन कर रहे थे । श्रीभगवन्नाम-कीर्तनके प्रभावसे राक्षस और पिशाची उक्त ब्राह्मणके समीप नहीं पहुँच सके ।

"महाभाग्यशाली ब्राह्मण ! आपके चरणोंमें हमलोग प्रणाम करते हैं।" राक्षसने उनसे विनयपूर्वक कहा । 'आजतक हमने सहस्रों, लाखों ब्राह्मणोंको खा डाला है, पर—

नामप्रावरणं विप्र रक्षति त्वां महाभयात् ।
नामश्रवणमात्रेण राक्षसा अपि भो वयम् ॥
परां शान्तिं समापन्ना महिम्ना ह्यच्युतस्य वै ।
(बृहन्ना०, गङ्गा-माहा० ३ । ६४-६५)

'हे ब्राह्मण ! यह भगवन्नामका दुर्ग तुम्हारी महाभयसे रक्षा कर रहा है । हम सब यद्यपि राक्षस हैं, फिर भी भगवान्‌के नाम-श्रवणसे हमें भी परम शान्ति अनुभव हो रही है । अहो ! भगवान् अच्युतकी महिमा अपार है ।'

राक्षसने आगे कहा—'आप गङ्गाजलसे अभिषेक कर हमें पापोंसे बचाइये ।'

पृथिव्यां यानि तीर्थानि पवित्राणि द्विजोत्तम ॥
तानि सर्वाणि गङ्गायाः कणस्यापि समानि न ।
तुलसीदलसम्मिश्रमपि सर्षपमात्रकम् ॥
गङ्गाजलं पुनात्येव कुलानामेकविंशतिम् ।
(बृहन्ना० गङ्गामाहा० ३ । ७०—७२)

'हे द्विजोत्तम ! इस पृथ्वीतलपर जितने भी तीर्थ हैं, वे सब गङ्गाके कणमात्रकी भी समानता नहीं कर सकते । तुलसीदल पड़ा हुआ सरसोंके बराबर भी गङ्गाजल इक्कीस पीढ़ियोंको तारनेवाला है ।'

'अतएव दयामय ब्रह्मण्यदेव ! गङ्गा-जलका दान कर हम पातकियोंका उद्धार कीजिये ।'

राक्षसोंके मुखसे निर्वाणजननी गङ्गाजीकी महिमा सुनकर दयालु ब्राह्मणने अत्यन्त प्रसन्नतापूर्वक तुलसी-दल-मिश्रित गङ्गाजल उनके ऊपर फेंका । भुवनपावन गङ्गाजलका तनिक-सा छींटा पड़ते ही पुत्रसमेत ब्राह्मणी और सोमदत्तका राक्षस-स्वभाव नष्ट हो गया और वे तेजस्वी देवस्वरूप हो गये । लक्ष्मीपति श्रीविष्णुकी भाँति उनके हाथोंमें शङ्ख, चक्र, गदा और पद्म सुशोभित थे । उन्होंने अपने उद्धारक ब्राह्मणकी स्तुति की और परम पावन विष्णुलोकको चले गये ।

उन राक्षसोंको शापमुक्त देखते हुए राजा कल्माषपाद वहीं दुःखी मनसे खड़े थे । तब आकाशवाणी हुई—राजन् ! दुःख और शोक त्याग दो । कर्मभोगके अनन्तर तुम्हारी भी मुक्ति हो जायगी ।'

राजा मित्रसहको संतोष हुआ । उन्होंने कलिङ्गदेशीय ब्राह्मण (गर्ग) को अपना सम्पूर्ण वृत्तान्त सुनाकर उनके चरणोंमें प्रणाम किया, तदनन्तर अविमुक्तक्षेत्र वाराणसी-पुरीको लौट आये । वहाँ उन्होंने श्रद्धापूर्वक छः मासतक गङ्गास्नान एवं काशी विश्वेश्वरका दर्शन किया । इसके फलस्वरूप वे भी ब्राह्मणीके शापसे मुक्त हो गये ।

राजा कल्माषपाद अपनी राजधानीको लौटे । प्रजा अत्यन्त प्रसन्न हुई । महर्षि वसिष्ठने उनका राज्याभिषेक किया और वे पूर्ववत् धर्मपूर्वक पृथ्वीका शासन करने लगे । वे स्त्री-समागमसे वञ्चित रहे, किंतु महर्षि वसिष्ठके अनुग्रहसे उन्हें संतान भी प्राप्त हो गयी और अन्ततः वे आवागमनसे मुक्त हो गये ।

पतितपावनी गङ्गाकी महिमा अपार है । इनका गुणानुवाद लोकस्रष्टा, भगवान् शंकर एवं विष्णुने ही नहीं, प्रायः समस्त देवताओंने किया है । ऋषियों, तपस्वियों एवं भक्तजनोंकी तो ये प्राणाधार हैं । स्कन्दपुराणके काशीखण्डमें देवाधिदेव महादेवने गद्गद कण्ठसे गङ्गा-माहात्म्यका गान किया है । वहाँ नीलकण्ठ भगवान् शंकर त्रैलोक्यपति विष्णुसे कहते हैं—

'विष्णो ! जो गङ्गाजीका सेवन करता है, उसने सब तीर्थोंमें स्नान कर लिया, सब यज्ञोंकी दीक्षा ले ली और सम्पूर्ण व्रतोंका अनुष्ठान पूरा कर लिया । कलियुगमें कलुषित चित्तवाले, परधन-लोभी तथा विधिहीन कर्म करनेवाले मनुष्योंके लिये दूसरी कोई गति नहीं है । जो दूर रहकर भी गङ्गाजीके माहात्म्यको जानता है और भगवान् गोविन्दमें

भक्ति रखता है, वह अयोग्य हो तो भी गङ्गा उसपर प्रसन्न होती हैं। गङ्गा सम्पूर्ण दोषोंको जलानेवाली तथा सम्पूर्ण पापोंका नाश करनेवाली है।

अनिच्छयापि संस्पृष्टो दहनो हि यथा दहेत्।
अनिच्छयापि संस्नाता गङ्गा पापं तथा दहेत्॥
(स्क० पु०, काशी० पू० २७। ४९)

'जैसे बिना इच्छाके भी स्पर्श किये जानेपर आग जला देती है, उसी प्रकार अनिच्छासे भी अपने जलमें स्नान करनेवाले मनुष्यके पापोंको गङ्गा भस्म कर देती है।' क्लेशनाशिनी गङ्गास्मरण, चिन्तन एवं भजन करनेवालेको भुक्ति और मुक्ति प्रदान करती हैं।

गच्छंस्तिष्ठञ्जपन् ध्यायन् भुञ्जञ्जाग्रत् स्वपन् वदन्।
यः स्मरेत् सततं गङ्गां स हि मुच्येत बन्धनात्॥
(स्क० पु०, का० पू० २७। ३७)

'जो चलते, खड़े होते, जप और ध्यान करते, खाते-पीते, जागते-सोते तथा बात करते समय भी सदा गङ्गाजीका स्मरण करता है, वह संसार-बन्धनसे मुक्त हो जाता है।' इतना ही नहीं—

गङ्गा गङ्गेति यो ब्रूयाद् योजनानां शतैरपि।
मुच्यते सर्वपापेभ्यो विष्णुलोकं स गच्छति॥
(प० पु०, सृ० ६०। ७८)

"जो सैकड़ों योजन दूरसे भी 'गङ्गा-गङ्गा' कहता है, वह सब पापोंसे मुक्त हो विष्णुलोकको प्राप्त होता है।"

पापप्रशमनी गङ्गाजीके दर्शनमात्रसे पाप-ताप शान्त हो जाते हैं। पितृगण अपने वंशजोंसे कामना करते रहते हैं कि वे गङ्गामें स्नान कर उक्त लोकपावन जलसे हमारा तर्पण करें। पापी-से-पापी जीव भी गङ्गाजलसे तर्पण किये जानेपर तृप्त हो जाते हैं। महर्षि व्यास भक्तस्वर्गापवर्गदा गङ्गाजीका गुणगान करते हुए कहते हैं—

गङ्गेति स्मरणादेव क्षयं याति च पातकम्।
कीर्तनादतिपापानि दर्शनाद्गुरुकल्मषम्॥
स्नानात् पानाच्च जाह्नव्यां पितॄणां तर्पणात्तथा।
महापातकवृन्दानि क्षयं यान्ति दिने दिने॥
अग्निना दह्यते तूलं तृणं शुष्कं क्षणाद् यथा।
तथा गङ्गाजलस्पर्शात् पुंसां पापं दहेत् क्षणात्॥
(प० पु०, सृ० ६०। ५-७)

'गङ्गाजीके नामका स्मरण करनेमात्रसे पातक, कीर्तनसे अतिपातक और दर्शनसे महापातक भी नष्ट हो जाते हैं। गङ्गाजीमें स्नान, जलपान और पितरोंका तर्पण करनेसे महापातकोंकी राशिका प्रतिदिन क्षय होता रहता है। जैसे अग्निका संसर्ग होनेसे रूई और सूखे तिनके क्षणभरमें भस्म हो जाते हैं, उसी प्रकार गङ्गाजी अपने जलका स्पर्श होनेपर मनुष्योंके सारे पाप एक ही क्षणमें दग्ध कर देती हैं।'

बृहन्नारदीयपुराणमें भी कहा गया है—

दर्शनात्स्पर्शनात्पानात्तथा गङ्गेति कीर्तनात्।
पुमान् पुनाति पुरुषाञ्छतशोऽथ सहस्रशः॥
(बृह०, गङ्गा० ५। ३)

"गङ्गाके दर्शन, स्पर्श तथा गङ्गा-नाम-कीर्तनसे पुरुष अपने सैकड़ों-सहस्रों पूर्व पुरुषोंको तारता है।"

मुहुर्मुहुस्तथा पश्येत्स्पृशेद्वापि मुहुर्मुहुः।
भक्त्या यदिच्छति नरः शाश्वतं पदमव्ययम्॥
× × ×
यत्फलं जायते पुंसां दर्शने परमात्मनः।
तद्भवेदेव गङ्गाया दर्शनाद्भक्तिभावतः॥
× × ×
योजनानां सहस्रेषु गङ्गां स्मरति यो नरः॥
अपि दुष्कृतकर्मा हि लभते परमां गतिम्।
स्मरणादेव गङ्गायाः पापसंघातपञ्जरम्॥
भेदं सहस्रधा याति गिरिर्वज्रहतो यथा।
गच्छंस्तिष्ठन्स्वपन्ध्यायञ्जाग्रद्भुञ्जन्हसन् रुदन्॥
यः स्मरेत् सततं गङ्गां स च मुच्येत बन्धनात्।
(बृहन्ना०, गङ्गा० ५। ७, ९, १२–१५)
× × ×

'जो मनुष्य शाश्वत पद प्राप्त करनेकी इच्छा रखता है, वह बारंबार गङ्गाका दर्शन करे तथा बारंबार स्पर्श करे।... मनुष्योंको परमात्माके दर्शनसे जो पुण्य प्राप्त होता है, वही पुण्य भक्ति-भावनासे गङ्गाके दर्शनमात्रसे प्राप्त होता है।... सहस्रों योजनोंके अन्तरपर रहकर भी जो मनुष्य गङ्गाका स्मरण करता है, वह दुष्कर्मी होनेपर भी परमगति प्राप्त करता है। गङ्गाके स्मरणमात्रसे पापसमूहोंका पंजर सहस्र टुकड़ोंमें इस प्रकार टूटकर नष्ट हो जाता है, जैसे वज्रसे आहत होकर पर्वत। चलते, बैठते, सोते, जागते, भोजन करते, हँसते,

रोते समय जो निरन्तर गङ्गाका स्मरण करते हैं, वे बन्धनसे मुक्त हो जाते हैं।'

स्वार्थपूर्ण संसारमें स्वार्थपूर्तिके अनन्तर मनुष्य एक-दूसरेको त्याग देते हैं, किंतु जगन्माता गङ्गा एक बार अपना लेनेपर सदाके लिये अपना बना लेती हैं, जीवको आवागमनके असह्य दुःखोंसे त्राण दिला देती हैं। वे त्याग करना जानतीं ही नहीं।

त्यजन्ति पितरं पुत्राः प्रियं पत्न्यः सुहृद्गणान्।
अन्ये च बान्धवाः सर्वे गङ्गा तान्न परित्यजेत्॥
(प० पु०, सृ० ६० । २६)

'पुत्र पिताको, पत्नी प्रियतमको, सम्बन्धी अपने सम्बन्धीको तथा अन्य सब भाई-बन्धु भी अपने प्रिय बन्धुको छोड़ देते हैं; किंतु गङ्गाजी उनका परित्याग नहीं करतीं।'

कृते तु सर्वतीर्थानि त्रेतायां पुष्करं परम्।
द्वापरे तु कुरुक्षेत्रं कलौ गङ्गा विशिष्यते॥
कलौ तु सर्वतीर्थानि स्वं स्वं वीर्यं स्वभावतः।
गङ्गायां प्रतिमुञ्चन्ति सा तु देवी न कुत्रचित्॥
गङ्गाम्भःकणदिग्धस्य वायोः संस्पर्शनादपि।
पापशीला अपि नराः परां गतिमवाप्नुयुः॥
योऽसौ सर्वगतो विष्णुश्चित्स्वरूपी जनार्दनः।
स एव द्रवरूपेण गङ्गाम्भो नात्र संशयः॥
(बृह०, गङ्गामा०, ४ । १९–२२)

'सत्ययुगमें सभी तीर्थ महत्त्वशाली थे, त्रेतामें पुष्करक्षेत्रका माहात्म्य अधिक था, द्वापरमें कुरुक्षेत्र महत्त्वपूर्ण माना गया है, *कलियुगमें गङ्गाका विशेष महत्त्व है। इसका कारण यह है कि कलियुगमें अन्य सभी तीर्थ स्वभावतः अपने महत्त्व एवं पराक्रमको गङ्गामें छोड़ देते हैं, किंतु ये गङ्गा अपने तेजको कहीं नहीं छोड़तीं। गङ्गाके परम पुनीत जल-कणसे युक्त वायुके स्पर्शमात्रसे ही पापी मनुष्य भी परम गति प्राप्त करते हैं। जो ये सर्वान्तर्यामी चित्स्वरूप भगवान् विष्णु हैं, वे ही द्रवरूपसे गङ्गाके परम पुनीत जल हैं, इसमें संशय नहीं है।'

* ऋग्वेदके अष्टम मण्डलमें आता है—'इमं मे गङ्गे यमुने सरस्वति'। इसकी व्याख्या निरुक्तभाष्यमें इस प्रकार की गयी है—'गमयति वा प्राणिनो विशिष्टस्थानमिति गङ्गा'—अर्थात् गङ्गा प्राणियोंको विशिष्ट स्थानमें पहुँचाती हैं, इसलिये इन्होंने गङ्गा-नाम पाया है। ऐसे उत्कृष्ट प्रमाणोंसे कलियुगमें गङ्गाका महत्त्व सिद्ध है।

धर्मकामार्थमोक्षप्रदा गङ्गाजीका एक नाम 'विष्णुपदी' है। ये पाप-ताप-निवारिणी परमपावनी जगन्माता विराट् विष्णुके महिमामय चरण-कमलोंसे प्रकट हुई थीं। यह कल्याणमयी कथा श्रीमद्भागवतादि पुराणोंमें विस्तारसे वर्णित है। कथा संक्षेपमें इस प्रकार है—

महर्षि कश्यपकी दो (दक्ष-पुत्रियाँ) पत्नियाँ थीं—दिति और अदिति। दिति दैत्य-जननी और अदिति देवताओंकी माता थीं। दोनोंकी संतानें एक-दूसरेको पराजित करनेके लिये सचिन्त रहती थीं। देवता दैत्योंके छोटे भाई थे। दितिके पुत्रोंमें सर्वप्रथम हिरण्यकशिपु नामक महाबली दैत्य हुआ। उसके पुत्र दैत्योंमें श्रेष्ठ भगवान् श्रीहरिके भक्त प्रह्लाद हुए। प्रह्लादके पुत्रका नाम था—विरोचन। वे ब्राह्मणोंके अनन्य भक्त थे। उनके अमित-तेजस्वी एवं परम पराक्रमी पुत्रका नाम था—बलि। बलि दैत्य-सेनाके अधिपति हुए। उन्होंने सम्पूर्ण भूमण्डलको अपने अधिकारमें कर लिया। फिर स्वर्गपर चढ़ दौड़े। दैत्यों और देवताओंमें आठ सहस्र वर्षोंतक भयानक संग्राम होता रहा। अन्ततः देवगण पराजित हुए और स्वर्ग त्यागकर भाग गये तथा मनुष्यके वेषमें पृथ्वीपर यत्र-तत्र निर्वाह करने लगे। परम पराक्रमी दैत्यराज बलि सर्वलोकमहेश्वर श्रीविष्णुकी चरण-शरण ग्रहण कर त्रैलोक्यका शासन करते हुए ब्राह्मणोंद्वारा देवताओंकी तुष्टिके लिये दिये गये समस्त यज्ञोंका हविष्य भी ग्रहण करने लगे।

इस कारण अत्यन्त दुःखी होकर देवमाता अदिति हिमालयमें जाकर श्रीहरिका ध्यान करती हुई अत्यन्त कठोर तप करने लगीं। उन्हें अनेकों दिव्य वर्षोंतक दुस्साध्य तपश्चरण करते देख मायावी दैत्योंने अनेक विघ्न उपस्थित किये, पर उनका कोई वश नहीं चला। माता अदिति अविचलित रहीं। अन्ततः भगवान् श्रीहरि उनके सामने प्रकट हुए।

'मैं तुम्हारी तपश्चर्या एवं आराधनासे प्रसन्न हूँ।' श्रीहरिने अपने कर-कमलोंसे माता अदितिको स्पर्शकर कहा। 'तुम निर्भय होकर वरकी याचना करो। तुम्हारा कल्याण निश्चित है।'

'सर्वव्यापक, देव-देवाधीश जनार्दन!' गद्गद कण्ठसे स्तुति करनेके अनन्तर महिमामयी महर्षि कश्यपकी प्राणवल्लभा अदितिने निवेदन किया—'मेरे पुत्र दैत्योंसे पीड़ित हैं। मैं दैत्योंका वध नहीं चाहती, वे भी मेरे पुत्र हैं। उनका

संहार किये विना आप मेरे पुत्रोंको राज्य-लक्ष्मी प्रदान कीजिये ।'

'सौतके पुत्रोंके प्रति तुम्हारी वत्सलता देखकर मैं अत्यन्त प्रसन्न हूँ ।' श्रीहरिने मधुर वाणीमें उत्तर दिया । 'जो अपने पुत्रोंके समान अन्यके पुत्रोंके साथ व्यवहार करता है, उसे पुत्र-शोक नहीं होता—यह सनातन धर्म है ।* मैं तुम्हारा पुत्र बनूँगा । मेरा भक्त मुझे धारण करनेमें सदा समर्थ होता है । तुम निर्भय रहना ।'

इतना कहकर दयानिधान प्रभुने माता अदितिको अपने कण्ठकी माला प्रदान की और वहीं अन्तर्हित हो गये । दक्ष-नन्दिनी देवमाता अदिति भी श्रीभगवान्‌के त्रिभुवनसुन्दर स्वरूपका स्मरण करती हुई अपने स्थानपर लौटीं ।

अन्ततः परम मङ्गलमय अवसर उपस्थित हुआ । भाद्रपद मासके शुक्लपक्षकी द्वादशीके दिन चन्द्रमा श्रवण नक्षत्रपर थे । अभिजित् मुहूर्त चल रहा था । धरती, आकाश, तारागण, नक्षत्र एवं पवनादि सभी मङ्गलरूप एवं आह्लाद-जनक थे उसी समय परम भाग्यशालिनी देवमाता अदितिके सम्मुख वामन रूपमें पीतकौशेयवासा, शङ्ख-चक्र-गदा-पद्मधारी नीलघन प्रकट हुए ।

हर्ष-विह्वल हो अत्यन्त श्रद्धापूर्ण हृदयसे महर्षि कश्यपने उनके चरणोंमें प्रणाम किया और उन मुनि-जन-वन्दित त्रैलोक्यनाथकी स्तुति करने लगे ।

'सुरवन्दित ! मैं प्रसन्न हूँ । तुम्हारा कल्याण हो ।' भगवान् वामनने अपने माता-पितासे कहा । 'मैं पिछले दो जन्मोंमें भी तुम दोनोंका पुत्र हुआ था । उसी प्रकार इस जन्ममें भी तुम दोनोंको प्रत्येक रीतिसे सुख प्रदान करूँगा ।'

उसी समय विरोचन-पुत्र बलिने शुक्राचार्य एवं ऋषियोंके सहयोगसे सत्र नामक महान् यज्ञ प्रारम्भ किया । उस यज्ञमें ब्रह्मवादी ऋषियोंने हवि ग्रहण करनेके लिये लक्ष्मीसहित श्रीविष्णुका आवाहन किया । भक्तवत्सल वामनभगवान् अपने माता-पिताकी आज्ञा प्राप्तकर उक्त यज्ञमें पहुँचे । ज्ञानी ऋषियोंने तत्काल उठकर उन परम प्रभु वामनका सादर अभिनन्दन किया ।

* स्वात्मजे वान्यपुत्रे वा यः समत्वेन वर्तते ।
न तस्य पुत्रशोकः स्यादेष धर्मः सनातनः ॥
(बृहन्ना०, गङ्गोत्पत्ति० २ । ४८)

'प्रिय दैत्यराज !' दैत्यगुरु शुक्राचार्यने एकान्तमें बलिसे धीरेसे कहा—'ये वामन साक्षात् विष्णु हैं । तुम्हारी राज्य-लक्ष्मीका हरण करने आये हैं । सावधान रहना ।'

'गुरो !' बलिने अत्यन्त प्रसन्न होकर उत्तर दिया—'इसमें सावधान क्या होना है । दरिद्रावस्थामें अत्यल्प वस्तु भी जिन विष्णुको अर्पित करनेपर अक्षय हो जाती है, वे विष्णु साक्षात् मेरे यज्ञ-मण्डपमें पधारें—इससे बड़ा सौभाग्य और क्या होगा ? उन्हींके प्रसन्नतार्थ तो मैंने इस यज्ञका अनुष्ठान किया है ।'

उसी समय अमिततेजस्वी वामनभगवान्‌ने यज्ञकी प्रज्वलित अग्निसे सुशोभित यज्ञ-मण्डपमें पदार्पण किया। उनका दर्शन करते ही भाग्यवान् बलिने हाथ जोड़कर उनका स्वागत किया, श्रद्धापूर्वक प्रभुके देव-दुर्लभ चरण पखारे और वह पावनतम जल सपरिवार सिरपर धारण किया। इसके अनन्तर गद्गद वाणीसे स्तुति करते हुए परम सौभाग्यशाली प्रह्लाद-पौत्रने अत्यन्त विनयपूर्वक कहा—'आज मेरा जन्म, जीवन और यह यज्ञानुष्ठान सफल हो गया । मैं निस्संदेह कृतार्थ हो गया ।'

कृतार्थोऽस्मि कृतार्थोऽस्मि कृतार्थोऽस्मि न संशयः ।
तस्मात्तुभ्यं नमस्तुभ्यं नमस्तुभ्यं नमो नमः ॥
त्वदाज्ञया त्वन्नियोगं साधयामीति मन्मनः ।
अत्युत्साहसमायुक्तं समाज्ञापय मां प्रभो ॥
(बृहन्ना० गङ्गोत्पत्ति० ३ । ४६-४७)

'मैं निस्संदेह कृतार्थ हो गया, कृतार्थ हो गया, कृतार्थ हो गया । इसलिये आपको बार-बार नमस्कार है, नमस्कार है । मेरे मनमें यही भावना है कि आपके आज्ञानुसार ही मैं आपका कार्य करूँ । प्रभो ! अत्यन्त उत्साहित देखकर मुझे निस्संकोच आज्ञा दीजिये ।'

'तपश्चरणके लिये मुझे तीन पग भूमिका दान कर दीजिये ।' यज्ञमें दीक्षित बलिके आनन्दोल्लासपूर्ण वचन सुनकर निखिलपावन भगवान् वामनने अपनी इच्छा व्यक्त कर दी ।

'मेरे वैभवपूर्ण इतने विशाल साम्राज्यके रहते आप यह क्या माँगते हैं ?' बलिने साश्चर्य निवेदन किया । 'राज्य, नगर और अमित धन-रत्नादि माँगिये ।'

'धर्मपरायण दैत्यराज !' सर्वथा निर्विकार परमप्रभु

वामनने कहा—'यह सब कुछ मुझमें है। मुझे तो तप करनेके लिये केवल तीन पग भूमि दे दो।'

भक्ताग्रगण्य प्रह्लादके पौत्र बलिने पृथ्वी-दानके लिये जलपूर्ण कलश हाथमें लिया। दैत्य-गुरु शुक्राचार्यने कलशकी जलधाराका अवरोध किया तो सर्वान्तर्यामी भगवान् वामनने उक्त कलशके छिद्रमें कुशाग्र प्रविष्ट कर दिया।

शुक्राचार्यका एक नेत्र नष्ट हो गया।

'शस्त्रतुल्य कुशाग्रकी तीक्ष्णता एवं इसका प्रभाव तो देखो।' शुक्राचार्य इतना कह ही रहे थे कि बलिने भगवान् वामनको पृथ्वी दान कर दी।

सर्वात्मा प्रभुने विराट् रूप धारण किया। उन विश्वात्मा श्रीविष्णुने अपने एक पगसे बलिकी सारी पृथ्वी नाप ली, शरीरसे आकाश और भुजाओंसे दिशाएँ घेर लीं, दूसरे पगसे उन्होंने स्वर्गको भी नाप लिया। भगवान्द्वारा उठाया हुआ दूसरा चरण महर्लोक, जनलोक और तपलोकसे भी ऊपर सत्यलोकमें पहुँच गया। उसके दर्शन कर देवगण सर्वपापतापहारी करुणामय प्रभुकी स्तुति करने लगे। कमलोद्भवने स्वयं विश्वरूप भगवान्के ऊपर उठे हुए चरणका अपने कमण्डलुके जलसे अत्यन्त श्रद्धा और भक्तिपूर्वक प्रक्षालन किया और पूजन किया। उसके अनन्तर विह्वल कण्ठसे परम प्रभु विष्णुकी स्तुति की।

धातुः कमण्डलुजलं तदुरुक्रमस्य
पादावनेजनपवित्रतया नरेन्द्र।
स्वर्धुन्यभून्नभसि सा पतती निमार्ष्टि
लोकत्रयं भगवतो विशदेव कीर्तिः॥
(श्रीमद्भा० ८। २१। ४)

'परीक्षित्! ब्रह्माके कमण्डलुका वही जल विश्वरूप भगवान्के पाँव पखारनेसे पवित्र होनेके कारण उन गङ्गाजीके रूपमें परिणत हो गया, जो आकाशमार्गसे पृथ्वीपर गिरकर तीनों लोकोंको पवित्र करती हैं। ये गङ्गाजी क्या हैं, भगवान्की मूर्तिमान् उज्ज्वल कीर्ति।'

भुवनपावन श्रीविष्णुके चरण धोनेके कारण आनन्दामृतस्वरूपा गङ्गाजी* 'विष्णुपदी' नामसे प्रसिद्ध हुईं।

× × ×

ब्रह्मवैवर्तपुराणके प्रकृतिखण्ड और देवीभागवतके नवम स्कन्धमें परब्रह्मस्वरूपिणी विष्णुपदीके आविर्भावकी एक और बड़ी सुन्दर कथा है। आनन्दामृतस्वरूपा गङ्गाजीके पवित्रतम प्राकट्यका यह मनोहर वृत्तान्त भगवान् श्रीनारायणने अपने मङ्गलमय मुखारविन्दसे देवर्षि नारदको सुनाया था। उक्त पापप्रशमनी कथाका संक्षेप इस प्रकार है—

एक बारकी बात है। गोलोकमें कार्तिकी पूर्णिमाके दिन राधा-महोत्सव हर्षोल्लासपूर्वक मनाया जा रहा था। आनन्दघन श्रीकृष्ण राधाकी सविधि पूजा कर रासमण्डलमें विराजित थे। ब्रह्मादि देवगण तथा शौनकादि ऋषि अचिन्त्य-शक्ति-सम्पन्न राधाका पूजन कर वहीं विराजमान हो गये। उसी समय वीणापाणि सरस्वती वीणाकी मधुर स्वर लहरी पर गीत गाने लगीं। भगवती भारती का भुवनपावन अत्यन्त श्रुति-मधुर संगीत सुन लोकपितामह ब्रह्मा, देवाधिदेव महादेव, भगवान् श्रीकृष्ण, सर्वसार-समन्विता राधा, भगवान् नारायण, लक्ष्मी तथा अग्नि और पवनदेवने अत्यन्त प्रसन्न होकर उन्हें क्रमशः सर्वोत्तम रत्नोंसे निर्मित हार, दुर्लभ उत्तम मणि, कौस्तुभमणि, रत्नमय अनुपम हार, सुन्दर पुष्पमाला और बहुमूल्य रत्नोंके दो कुण्डल, चिन्मय वस्त्र और मणिमय नूपुर अर्पित किये। भगवती मूल प्रकृति† ने उनके अन्तःकरणमें अत्यन्त दुर्लभ परमात्म-भक्ति उत्पन्न कर दी और धर्मने देवी सरस्वतीको धार्मिक बुद्धि और प्रपञ्चात्मक जगत्में स्थिर कीर्ति प्रदान की।

उसी समय लोकस्रष्टाकी प्रेरणासे पार्वतीवल्लभ भगवान् शंकर अत्यन्त मधुर स्वरसे रसोल्लासपूर्ण श्रीकृष्णसम्बन्धी सरस पदका गान करने लगे। उसे सुनकर देववर्ग मूर्च्छित-सा हो गया। बड़ी कठिनाईसे जब उनकी चेतना लौटी, तब वहाँ राधाकृष्णके स्थानपर सम्पूर्ण रासमण्डलमें फैला हुआ जल-ही-जल दीखा। अपने प्राणधन राधाकृष्णके अदर्शनसे गोप, गोपी, देवता और ब्राह्मण—सभी आर्तस्वरसे विलाप करते हुए प्रार्थना करने लगे—'प्रभो! आप अपनी श्रीमूर्तिके हमें पुनः दर्शन करा दें।'

* ब्रह्मवैवर्तपुराणमें आया है कि 'विराट् प्रभुके उठाये हुए चरण-अङ्गुष्ठद्वारा स्पर्श होते ही ब्रह्माण्ड विदीर्ण होकर दो भागोंमें विभक्त हो गया और विष्णुभगवान्के चरणको प्रक्षालित करता हुआ लोकपावनकारी कारणार्णवका जल अनेक धाराओंमें बाहर बह निकला और ब्रह्मलोकमें आकर ब्रह्मादिक देवताओंको पवित्र करते हुए मेरुके शिखरपर गिरा।

† ये विष्णुमाया, ईश्वरी, दुर्गा, नारायणी और ईशाना नामसे प्रख्यात हैं।

गोप, गोपीजन, ब्राह्मण एवं देवसमुदायकी करुण प्रार्थना सुनते ही सर्वान्तर्यामी सर्वान्तरात्मा भक्तवत्सल प्रभुने आकाशवाणीके माध्यमसे मधुर स्वरमें अत्यन्त सुस्पष्ट कहा और उसे सबने सुना—'मैं सर्वात्मा श्रीकृष्ण और मेरी स्वरूपा शक्ति राधा—हम दोनोंने ही भक्तोंपर अनुग्रह करनेके लिये यह जलमय विग्रह धारण कर लिया है।' इसके अनन्तर करुणामय श्रीकृष्णने अपने दर्शनका मार्ग बतलाया।

× × ×

पूर्णब्रह्म भगवान् श्रीकृष्ण ही जलरूप होकर गङ्गा बन गये थे। इस प्रकार धर्मस्वरूपिणी गङ्गाका गोलोकमें आविर्भाव हुआ। यह अनाथवत्सला गङ्गा लक्ष्मीपति श्रीविष्णुकी पत्नी हुई, यह कथा ब्रह्मवैवर्तपुराण और देवीभागवतमें आयी है। उक्त पावन कथाका सार इस प्रकार है—

पवित्रतम गोलोककी बात है। परब्रह्म परमेश्वर श्रीकृष्णके मङ्गलमय अङ्गोंसे प्रकट लावण्यामृतवर्षिणी गङ्गाके रत्नाभरणभूषित भुवनमोहन दिव्य अङ्गोंपर चिन्मय वस्त्र सुशोभित थे। वे सलज्ज भावसे दिव्य-सौन्दर्यसार श्रीकृष्णके समीप विराजमान हो गयीं। वे नीलोत्पल श्यामसुन्दरके अपरिसीम रूप-लावण्यके दर्शन कर पुलकित हो रही थीं।

उसी समय असंख्य गोपियोंके साथ अनुपम-सौन्दर्यमयी राधा वहाँ आकर श्रीकृष्णके समीप सुन्दर रत्नमय सिंहासनपर विराजित हुईं। भगवान् श्रीकृष्ण उनसे प्रसन्नतापूर्वक मधुर वार्तालाप करने लगे।

परम मङ्गलमयी राधा रोषसे काँप रही थीं और उनके रागयुक्त सुन्दर अधर फड़क रहे थे। भयभीत गोपोंने उनके देवदुर्लभ पादपद्मोंमें प्रणाम निवेदनकर उनकी स्तुति की। श्रीकृष्णने भी उनका स्तवन किया। तीर्थमाता गङ्गाने भी उठकर उनकी स्तुति-प्रार्थना की और अत्यन्त विनयके साथ उनकी कुशल पूछी। कल्याणकारिणी गङ्गा मन-ही-मन भयभीत हो रही थीं। इस कारण भयवश नीचे खड़ी हो गयीं। उन्होंने अन्तर्मनसे श्रीकृष्ण-पदारविन्दकी शरण ग्रहण की। भक्तप्राणधन श्रीकृष्णने हृत्कमलमें तपोमयी श्रीगङ्गाको देखकर उन्हें अभय-दान किया।

परम प्रभुसे आश्वस्त होनेके अनन्तर त्रैलोक्यव्यापिनी गङ्गा परम तेजस्विनी राधाके परम मनोहर रूपको निहारने लगीं। वे दिव्यरत्नाभरणभूषिता राधाके नखमणि-चन्द्रिकासे लेकर पावनतम सीमन्ततक जिस मङ्गलमय लोकपावन श्रीअङ्गपर दृष्टि डालतीं, वहीं अतृप्त नेत्रोंसे देखती रह जातीं।

'प्राणेश्वर! आपके विकसित वदनारविन्दको मुस्कराकर अपलक दृगोंसे निहारनेवाली यह कल्याणी कौन है?' उसी समय राधाने अत्यन्त मधुर वाणीमें भगवान् श्रीकृष्णसे पूछा। 'इसके हृदयमें मिलनेच्छाके भाव जाग्रत् हैं। आपकी अद्भुत सौन्दर्यराशिके दर्शन कर यह पुलकित ही नहीं, अचेत-सी होती जा रही है और आप भी इसकी ओर देखकर मधुर-मधुर मुस्करा रहे हैं। मैं नारी-जातिके मृदुल स्वभावके कारण प्रेमवश क्षमा कर देती हूँ।'

इसके अनन्तर रक्तोत्पलनयना राधाने गङ्गासे कुछ कहना चाहा, किंतु योग-प्रवीणा त्रैलोक्यसुन्दरी गङ्गा राधाके मनोगत भावोंको जानकर तत्क्षण अन्तर्धान होकर अपने जलमें प्रविष्ट हो गयीं। राधा सिद्धयोगिनी थीं। यह रहस्य जानकर उन्होंने सर्वत्र विद्यमान उन जलस्वरूपिणी गङ्गाको अपनी अञ्जलिमें भरकर पीना प्रारम्भ कर दिया। रागद्वेषविनाशिनी गङ्गा पूर्ण सिद्धा थीं। राधाका अभिप्राय समझकर वे निखिलब्रह्माण्ड-पावन श्रीकृष्णकी शरणमें जाकर उनके अरुण चरण-कमलोंमें लीन हो गयीं। श्रीकृष्ण-हृदय-हारिणी श्रीराधाने उन्हें गोलोक, वैकुण्ठलोक तथा ब्रह्मलोक आदिमें सर्वत्र ढूँढ़ा; किंतु वे कहीं नहीं दीख पड़ीं।

उस समय सर्वत्र जलाभाव हो गया। कीचड़तक सूख गये। ब्रह्माण्डके सम्पूर्ण जलचर तड़प-तड़पकर मृत्युमुखमें चले गये। तब ब्रह्मा, विष्णु, शिव, अनन्त, धर्म, इन्द्र, चन्द्रमा, सूर्य, मनुगण, मुनिसमाज, देवता, सिद्ध और तपस्वी—सभी गोलोकमें प्रकृतिसे परे श्रीकृष्णके समीप पहुँचे। सभीके कण्ठोष्ठ-तालु सूख रहे थे। उन लोगोंने श्रीकृष्णके भक्त-भय-हारी कमल-चरणोंमें श्रद्धापूर्वक प्रणाम कर उनकी स्तुति की। इसके अनन्तर देवताओंकी प्रेरणासे चतुर्मुख ब्रह्मा परात्पर ब्रह्म भगवान् श्रीकृष्णके निकट गये। क्षीराब्धिशायी विष्णु उनके दायें और कैलासवासी शंकर उनके बायें स्थित थे। उस समय आनन्दघन श्रीकृष्ण एवं राधा—दोनों साथ ही विराजमान थे।

कमलोद्भव चतुरानन आश्चर्यचकित थे। उन्होंने अत्यन्त अद्भुत दृश्य देखा। सम्पूर्ण रासमण्डल श्रीकृष्णमय था। उसमें सभी समवय द्विभुज श्यामसुन्दर थे। मयूरपिच्छ सबके मस्तकपर सुशोभित था। पीयूषवर्षिणी मुरली सबके कर-कमलोंमें विद्यमान थी और सबके वक्षपर कौस्तुभमणि सुशोभित थी। विधाता सेवक-सेव्यका निर्णय नहीं कर सके।

क्षणार्धमें ही भगवान् श्रीकृष्ण तेजःस्वरूप हो जाते और क्षणार्द्धमें आसनासीन दीखते। लोकस्रष्टाने एक ही क्षण

उनके निराकार और साकार दोनों रूपोंका दर्शन-लाभ किया। एकबार वे नवघनसुन्दर एकाकी और दूसरी बार अपनी प्रियतमा राधाके साथ प्रत्येक आसनपर आसीन दीखते। कभी श्रीकृष्ण राधा और कभी राधा श्रीकृष्ण बन जातीं।

चकित विधाताने अपने हृत्कमलस्थित श्रीभगवान्‌का ध्यान किया। उन्हें ध्यानमें श्रीभगवान्‌के दर्शन हुए। फिर तो पद्मयोनिने प्रभुकी श्रद्धा-भक्तिसे विह्वल होकर स्तुति की और परमप्रभुके आदेशसे उन्होंने अपने नेत्र बंद कर लिये। तब उन्होंने भगवान् श्रीकृष्णको अकेले ही आसनपर विराजमान देखा। उनके वक्षपर राधा सुशोभित थीं। पार्षदों एवं गोपियोंसे घिरे श्रीभगवान्‌के दर्शन प्राप्तकर ब्रह्मादि देव-समुदायने प्रभुको प्रणाम कर उनका स्तवन किया।

'ब्रह्मन्! आप गङ्गाको ले जानेके लिये पधारे हैं, यह मुझे विदित है।' सर्वात्मा सर्वान्तर्यामी, सर्वभावन परब्रह्म परमेश्वर श्रीकृष्णने उपस्थित देवताओंका अभिप्राय समझकर कहा। 'किंतु इस समय उसने मेरे चरणोंमें आश्रय लिया है। राधाजी उसे पी जाना चाहती थीं। आपलोग पहले इसे पूर्णतया निर्भय करनेका यत्न करें, मैं आपलोगोंको इसे प्रसन्नतापूर्वक दूँगा।'

'महिमाशालिनी देवि!' चतुराननने सम्पूर्ण देवताओंके साथ श्रीकृष्णपूजिता राधाकी स्तुति करनेके अनन्तर अत्यन्त विनम्रतासे निवेदन किया। 'गङ्गा आपके तथा भगवान् श्यामसुन्दरके ही श्रीअङ्गसे उत्पन्न होनेके कारण आपकी पुत्रीके तुल्य हैं। आपकी आराधनासे वैकुण्ठाधिपति श्रीहरि इसके पति होंगे। साथ ही अपनी एक कलासे ये भूमण्डलपर भी पधारेंगी। वहाँ श्रीभगवान्‌के अंश क्षीरसमुद्रको इनका पति होनेका सौभाग्य प्राप्त होगा।'

'माता!' विधाताने पुनः निवेदन किया—'गोलोककी ही भाँति इन्हें सर्वत्र रहना चाहिये।'

श्रीराधाने मुस्कराते हुए पद्मयोनिकी सभी बातें स्वीकार कर लीं। तब आश्चर्यमूर्ति गङ्गा श्रीकृष्णके चरणके अँगूठेके अग्रभागसे निकलकर विराजित हुईं। श्रीहरिके चरणसे प्रकट होनेके कारण वे 'विष्णुपदी' कहलायीं। देवगण प्रसन्न हुए और सबने उनको सम्मान प्रदान किया। फिर जलस्वरूपा गङ्गासे उसकी अधिष्ठात्री देवी जलसे निकलकर परमशान्त विग्रहसे सुशोभित होने लगीं। लोकपितामह ब्रह्माने उस पावन जलको अपने कमण्डलुमें रख लिया और कर्पूरगौर भगवान् त्रिनयनने उन्हें अपने मस्तकपर धारण किया। इसके अनन्तर लोकस्रष्टाने गङ्गाको राधा-मन्त्रकी दीक्षा देकर उन्हें राधाके स्तोत्र, कवच, पूजा और ध्यानकी विधि भी बता दी।

'ब्रह्मन्! आप गङ्गाको स्वीकार करें।' भगवान् श्रीकृष्णने विधाताके साथ महेश्वरादि देवगणोंको सम्बोधित करते हुए कहा। 'गोलोकमें कालचक्र नहीं चलता, इस कारण तुमलोग, अन्य देवता, मुनिगण, मुक्त और सिद्धादि जो यहाँ उपस्थित हैं, वे ही जीवित हैं, अन्यथा कल्पान्तके कारण सम्पूर्ण सृष्टि प्रलयार्णवमें डूब गयी है। वैकुण्ठके अतिरिक्त सब जलमय हैं। आप जाकर ब्रह्मलोकादि तथा अपने ब्रह्माण्डकी रचना करें। इसके अनन्तर गङ्गा भी वहाँ जायगी। अब आपलोग शीघ्र पधारिये।'

इतना कहकर परमाराध्या राधाके सर्वस्व भगवान् श्रीकृष्ण अन्तःपुरमें चले गये और ब्रह्मादि देवगण वहाँसे लौटकर सृष्टि-रचनामें जुट गये।

जब सौभाग्यसुन्दरी गङ्गा वैकुण्ठमें चली गयीं, तब कुछ देरके अनन्तर विधाता भी उनके साथ ही वैकुण्ठमें पहुँचे।

'करुणामय प्रभो!' भगवान् श्रीनारायणके चरण-कमलोंमें श्रद्धापूरित प्रणाम करनेके अनन्तर कमलोद्भवने अत्यन्त विनम्र निवेदन किया—'ब्रह्मद्रवरूपिणी गङ्गा सत्त्वस्वरूपिणी एवं अमितसौन्दर्यशालिनी हैं। ये श्रीकृष्णके चरणोंसे प्रकट हुई हैं और उन्हें छोड़कर किसी अन्यको पतिके रूपमें वरण करना नहीं चाहतीं, पर तेजस्विनी राधाको यह सह्य नहीं।'

'सर्वाधार प्रभु!' विधाताने गङ्गापर राधा-रोषका वृत्तान्त सुनाते हुए आगे कहा—'परिपूर्णतम श्रीकृष्ण स्वयं दो भागोंमें विभक्त हुए। आधेसे तो द्विभुज श्रीकृष्ण बने रहे और उनका आधा अङ्ग आपके चतुर्भुजरूप श्रीहरिके रूपमें प्रकट हो गया। इसी प्रकार भगवान् श्रीकृष्णके वामाङ्गसे आविर्भूत श्रीराधा भी दो रूपोंमें परिवर्तित हो गयीं। दाहिने अंशसे तो वे स्वयं रहीं और उनके वामांशसे लक्ष्मी प्रकट हुईं। अतएव आपके ही श्रीअङ्गसे प्रकट ये महापुण्योदयप्राप्या गङ्गा आपको ही पतिके रूपमें वरण करना चाहती हैं।'

इतना कहनेके अनन्तर लोकपितामह सौभाग्यमूर्ति गङ्गा-को श्रीहरिके समीप बैठाकर वहाँसे चले गये। फिर तो स्वयं श्रीहरिने दिव्यातिदिव्य गङ्गाके साथ सोत्साह सविधि विवाह किया। शेषशायी श्रीविष्णु प्रणतार्तिभञ्जनी गङ्गाके प्रियतम पति बन गये। (अपूर्ण)

आत्मा और परमात्मा

(लेखक—श्रीज्वालाप्रसादजी भार्गव)

युगोंसे सृष्टिके रहस्योद्घाटनका प्रयत्न मनुष्य करता आ रहा है—'कस्त्वम्, कोऽहम्' का प्रश्न-भार लेकर; परंतु कविके शब्दोंमें—

'सदियों फ़िलासफ़ी की चुना-ओ चुनी रही।
लेकिन ख़ुदा की बात जहाँ थी, वहीं रही॥'

वह इस समस्याका समाधान आजतक न कर पाया। ज्ञान, जो जनोंके लिये ग्राह्य एवं उपलब्ध होता, उससे दूर ही रहा। समय-समयपर किसी-किसीको झाँकियाँ मिलती रही हैं अवश्य, पर आत्म-ज्ञानका प्रखर सूर्य कभी बादलोंकी ओटसे बाहर निकलकर पूरी तरह देदीप्यमान न हुआ।

प्रत्येक देशमें—विशेषकर उन देशोंमें, जहाँ बौद्धिक शक्तिका पूर्णतया विकास हुआ, आत्मज्ञान-प्राप्तिकी चेष्टाएँ होती रहीं; परंतु अन्तमें मानव-समाज इसी निष्कर्षपर पहुँचा कि आत्मज्ञानकी प्राप्तिका सोपान आत्मानुभूति ही है, दूसरा नहीं। आत्माके द्वारा ही हम आत्माको पा सकते हैं। आत्माके द्वारा ही आत्मानुभूति सम्भव है। समान ही समानको आकर्षित कर सकता है। फिर एक बार जब आत्मा, जो परमात्माका ही अंश है, उसके प्रतिविम्बको या उसकी झलकको देख लेता है, तब उससे मिलनेको अहर्निश व्याकुल रहने लगता है; मिलनकी घड़ियाँ आती हैं, पर मायावश वह उससे मिल नहीं पाता।

पति-पत्नी, प्रिया-प्रियतमके रूपकसे भारतीय कवि-समाजने आत्मा-परमात्माके प्रेम, विरह और मिलनका वर्णन किया है। मुस्लिम शायरोंने भी ऐसा किया है। इससे भी यह स्पष्ट होता है कि एक या अद्वैतकी भावना ही आत्माका सहज स्वभाव है। वह अन्यात्माको अपना ही रूप मानकर उसे आत्मसात् करना चाहता है। जिसने परमात्मानुभूतिकी प्राप्ति कर ली, उसने कहा—'ऐ मूर्ख ! उस प्रियतम परमात्माको तू क्यों ढूँढ़ता फिरता है, नाभिमें कस्तूरी रखकर मृगकी भाँति ? वह तो तेरे पास ही है, अर्थात् तू परमात्माका ही तो एक अंश है, वही है।

पानी बिच मीन पियासी रे !
मोहे कह-कह आवत हाँसी।

जो सिद्ध पुरुष हैं, वे अन्तःस्थित ब्रह्मके दर्शन तो कर ही लेते हैं, उनको यह भी ज्ञान हो जाता है कि संसारमें जितनी भी भिन्न वस्तुएँ हैं, उनके भीतर एक छिपी हुई अभिन्नता है, सारे जीवनोंमें एक ही जीवन है और सब-में एक छिपा हुआ सादृश्य है। ब्रह्मका साक्षात्कार हो जानेपर प्रेमीके अन्तःप्रदेशमें वह दीपकके समान जगमगाता है; उस प्रकाशमें वह महान् आत्मा अपनेमें भी ब्रह्मभावका अनुभव करने लगता है और समझता है कि सूर्य, चन्द्र एवं नक्षत्रोंमें मेरी ही ज्योति है, समस्त प्रकृतिमें मेरी ही झलक है, वे सब मेरे अन्तर-स्थित ज्योतिके प्रतिबिम्ब हैं और सब मुझमें ही समाये हुए हैं।

एक उर्दू-शायरने इसी तथ्यको कितनी सुन्दरताके साथ व्यक्त किया है ! वह सृष्टिको सम्बोधित करके कहता है कि 'ऐ सृष्टि ! तू अपनी सुसज्जितता, दिव्यता और महानतापर इतना न इतरा ! इस विश्वरूपी महफ़िलमें तू एक तसबीर मात्र है और सम्पूर्ण महफ़िल मैं हूँ'—

बज़्मे-हस्ती[1] ! अपनी आराइशों[2] पै तू नाज़ाँ[3] न हो
तू तो एक तस्वीर है महफ़िल की और महफ़िल हूँ मैं।

एक दूसरे उर्दू-शायरके इस महान् वाक्यको देखिये। एक पहुँचा हुआ पुरुष अपनी तन्मयतामें पूर्ण विश्वाससे दृढ़ता-पूर्वक कह बैठता है कि पूर्ण सृष्टिके फैलावमें इतनी जगह कहाँ है, जहाँ परमात्मा समा सके; सृष्टि तो उसका एक तुच्छ अंश है। वह तो मेरा ही दिल है, जो इतना विशाल है कि वहाँ परमात्माके समा जाने या रहनेका स्थान है—

अर्ज़ो[4]-समाँ[5] कहाँ तेरी वसअत[6] को पा सके।
मेरा ही दिल है वह कि जहाँ तू समा सके॥

इस युग-युगान्तरव्यापी अखण्ड जीवन-प्रवाहमें महत्त्व उन्हीं कर्मोंका है, जिनसे मानव-जाति समुन्नत होती है, अधिकतर पूर्णता लाभ करती है, उन साधनशक्तिसे युक्त होती है, जिसके द्वारा जातीय जीवनको धारा परमात्म-सत्ताके महासमुद्रमें जा मिलनेके लिये प्रवाहित होती है। प्रेमकी

१. सृष्टिकी महफ़िल। २. सजावट। ३. इतरा न। ४. जमीन। ५. आसमान। ६. फैलाव।

ज्योति एक विलक्षण ज्योति है, जो उस ज्योतिःस्वरूप परब्रह्मकी ज्योतिसे मिलकर भी सर्वथा लीन नहीं हो जाती और चमकती ही रहती है। यद्यपि आत्मा परमात्मामें इसी ज्योतिके प्रभावसे मिल जाती है, फिर भी उसका प्रेम-प्रकाश उस अक्षय प्रकाशमें ऐसे प्रकाशित रहता है, जैसे पानीमें लहर।

मानवमात्र इस लोकमें सुखी रहना तथा आगे परलोकमें शान्ति और यश प्राप्त करना चाहता है। सब अपने लोक-परलोक बनानेके लिये परमात्माकी याद करते हैं, शुभकर्म करते हैं, बहुत कुछ त्याग भी करते हैं; परंतु ऐसे प्रेमी बहुत ही कम हुए हैं, जिन्होंने अपना समस्त जीवन परमात्माकी यादमें उसीके लिये बिताया हो।

जो निःशेष भावसे और समग्ररूपसे अपने आपको भगवान्‌को दे डालते हैं, उन्हें भगवान् भी अपनेको दे डालते हैं। उन्हींके लिये है—शान्ति, सुख, प्रकाश, शक्ति, स्वातन्त्र्य, प्रसार, ज्ञानके शिखर और आनन्दके सागर।

सौन्दर्यवर्द्धक पदार्थ और जीव-हिंसा

आजकलके सौन्दर्यवर्द्धक पदार्थों (Cosmetics and scent) में हिंसासे प्राप्त वस्तुओंका उपयोग होता है—ऐसी बात सुनी जाया करती थी, लेकिन सहसा उसपर विश्वास नहीं जमता था। अब इसका विवरण Victor Gollence Ltd., London द्वारा प्रकाशित 'Animals, men and morals' (जीव, मनुष्य और सदाचार) नामक ग्रन्थमें पढ़नेको मिला, जिसको देखनेपर पता चलता है कि मनुष्य अपनी क्षणिक मौज-शौकके लिये अन्य मूक प्राणियोंको कितना कष्ट देता है। उस पुस्तकके Muriel, the Lady Dowding द्वारा लिखित 'Furs and Cosmetics: Too High a Price ?' (जानवरोंके रोएँ और अङ्गराग—बहुत बड़ी कीमत) शीर्षक प्रबन्धके कुछ उद्धरणोंका अनुवाद नीचे दिया जा रहा है।

(पृष्ठ-संख्या ३६ के चौथे अनुच्छेदसे पृष्ठ-संख्या ३८ की सातवीं पंक्तितक—)

मुश्क-बिलाव (Civet Cat) को ३ फुट लंबे और डेढ़ फुट चौड़े अलग-अलग पिंजरोंमें बंद रखा जाता है। ये पिंजरे इतने बड़े इसलिये बनाये जाते हैं कि वे अगल-बगल घूम सकें और ऊपर-नीचे हो सकें। उनको २४ घंटोंमें एक बार भोजन दिया जाता है, एक दिन शामको मांस और दूसरे दिन शामको चूहेका सूप। प्रत्येक ९दिनोंके बाद इनका 'सफाई' (cleaning) नामक ऑपरेशन होता है। मुश्क-बिलावको छदि-द्वार (trap door) से पकड़ा जाता है, उनकी टाँगोंको अलग चौड़ा करके हाथसे फैलाया जाता है तथा उसके कोश या थैलीको, (sac or pouch) जो नर-पशुओंकी जननेन्द्रियके अधर भागमें स्थित होती है—हाथसे खोला जाता है और सींगकी तरहके स्रुवेके द्वारा ग्रन्थिसे कस्तूरी खुरच ली जाती है। ऑपरेशन करनेके बाद कोशकी थैलीमें मक्खनकी डली भर दी जाती है। इस प्रकार ये पीड़ित मुश्क-बिलाव बन्धनमें रहनेपर बच्चे पैदा नहीं कर सकते और उनका सामान्य जीवन १०-१२ वर्षोंसे घटकर ६-७ वर्ष रह जाता है।

प्रत्येक वर्ष इथियोपिया (Ethiopia) से लगभग १२५० किलो मुश्क-बिलाव-कस्तूरी बाहर भेजी जाती है। इसमेंसे कुछ मात्रा तो स्विजरलैंडको और कुछ अमेरिकाको भेजी जाती है, जहाँ पैनिसिलिन सस्पेंशन तैयार करनेमें इसका उपयोग किया जाता है। किंतु इसका अधिक भाग फ्रांसको भेजा जाता है, जहाँ परिमल-द्रव्य (सुगन्धित वस्तुएँ) तैयार करनेमें ही इसका उपयोग किया जाता है।

कान्तिवर्द्धक द्रव्यों (अङ्गरागों) के निर्माणमें अश्व-पशुका भी उपयोग किया जाता है। कान्तिवर्द्धक

वस्तुएँ तैयार करनेमें पशुओंके शरीरसे प्राप्त द्रव्यका उपयोग एक बहुत ही गुप्त रहस्य है। उदाहरणके लिये स्त्री-मदजन (Oestrogen) का उपयोग अनेक वस्तुओंके बनानेमें होता है। यह स्त्री-मदजन गर्भवती घोड़ीके मूत्रसे निकाला जाता है। ओंटारियो (Ontario) में एक औषध-निर्माता कम्पनीकी आवश्यकताकी पूर्ति करनेके लिये गर्भवती घोड़ियोंके मूत्रके कम-से-कम १२३ ऐसे क्षेत्र हैं, जिनमें प्रत्येकमें २५ से ५० तक घोड़ियाँ रहती हैं। इन सबको निरन्तर ब्यानेकी स्थितिमें रखा जाता है। इन्हें हर समय एक विशेष साजमें आबद्ध रखा जाता है, किसी प्रकारका (घूमने-फिरनेरूप) व्यायाम नहीं करने दिया जाता तथा अप्राकृतिक भोजन दिया जाता है, जिससे अधिक मात्रामें मूत्र पैदा हो।

कुछ सामान्य उत्पादनोंके उपादानोंका संक्षिप्त विवरण देना यहाँ उपयुक्त होगा।

साबुन—इस देशमें अधिकांश साबुन तैयार करनेमें ऐसे साबुनके टुकड़ोंका उपयोग किया जाता है, जिनमें गोमांसकी चरबी, तिमि-मत्स्य (Whale) का तेल या कसाईखानोंसे प्राप्त अन्य पशुओंकी चरबी होती है। चूँकि साबुनका व्यापार एक विशिष्ट व्यापार है, अतः कुछ ही व्यवसाय-संघ अपना साबुन तैयार करते हैं। यह कार्य सामान्यतः उनके लिये संवेदित निर्माताओं (contracted manufacturers) द्वारा किया जाता है। थोक-व्यापारी इन संवेदित निर्माताओंको साबुनके टुकड़े देते हैं और उनमें ऊर्णा-वपा (lanolin—wool-fat), ताल-जैतूनका तेल (palm-olive oil) या व्यवसाय-संघकी कैसी भी आवश्यकता हो, उसी प्रकारके पदार्थ मिला देते हैं। साबुनमें अनिर्दिष्ट-पशु-चरबी पालतू पशुओंकी भी हो सकती है। एक बार दुर्भाग्यवश एक भारयान (lorry) उलट गया, जिससे उसमें भरे हुए बिल्लियों और कुत्तोंके शव मुख्य-मार्गपर बिखर गये। जाँच करनेपर पता चला कि उन मरे हुए पशुओंमें बूढ़े और बीमार कुत्ते-बिल्ली थे, जिनमें बहुत-से कैंसरसे पीड़ित भी थे। ये शव साबुन और प्रक्षालक तैयार करनेके लिये किसी प्रसिद्ध कारखानेमें जा रहे थे।

परिमल-द्रव्य—सुगन्धको स्थिर और अधिक समय-तक टिकाऊ बनानेके लिये इसके निर्मातागण वंश-परम्परासे पशु-तत्त्व (animal extract) का उपयोग करते हैं। इस पशु-तत्त्वमें केन्द्रितरूपमें बहुत ही बुरी दुर्गन्ध होती है, लेकिन जब उसमें फूलों तथा जड़ी-बूटियोंका सार (अर्क—essence) मिलाकर उसे हल्का कर दिया जाता है, जिससे सुगन्ध और उसकी स्थिरताकी अवधि बढ़ जाती है। सुगन्धको स्थिर करनेके लिये सामान्यतः जिन वस्तुओंका उपयोग किया जाता है, वे हैं मुश्क-बिलाव-कस्तूरी (civet), ह्वेल मच्छकी आँतोंमें पाया जानेवाला तीव्र गन्धवाला पदार्थ, अम्बर्ग्रिस (ambergris), कस्टोरियम (ऊद-बिलावसे प्राप्त तीव्र गन्धवाला पदार्थ) एवं मृग-कस्तूरी।

मुश्क-बिलाव-कस्तूरीके सम्बन्धमें पहले ही विवेचना की जा चुकी है। अम्बर्ग्रिस ह्वेल मच्छसे प्राप्त होता है। कभी-कभी इसे ह्वेल मच्छद्वारा उगला जाता है और यह समुद्रमें तैरते हुए पाया जाता है। यह पदार्थ ह्वेल मच्छकी मर्मान्तक मृत्युके बाद उसके शरीरसे भी निकाला जाता है और ह्वेल-पर्क (Whaler's 'perk') के नामसे बेचा जाता है।

कैस्टोरिया मुश्क-बिलाव (civet cat) की तरह नर और मादा ऊद-बिलावकी ग्रन्थियोंका स्राव है। यह पदार्थ बंदी ऊदबिलावसे प्राप्त नहीं किया जाता, बल्कि यह फंदेमें मारे हुए ऊद-बिलावोंसे मिलता है।

कस्तूरी हिमालयके कस्तूरी-मृगोंसे अधिक मात्रामें प्राप्त होती रही है। ये पशु संगीतका स्वर सुनकर अपने गुप्त स्थानोंसे बाहर निकल आते हैं और बाहर निकलते ही इन्हें पकड़कर मार दिया जाता है। कस्तूरीकी प्राप्तिके लिये इन मृगोंकी अत्यधिक संख्यामें हत्याके परिणामस्वरूप ये पशु प्रायः समाप्त हो चले हैं। लुईसियाना (Louisiana)के कस्तूरी-मूषकमें अब इसका एक अनुकल्प (substitute) मिल गया है, जिनको लाखों-करोड़ों (मिलियन्स) की संख्यामें पकड़कर मारा जा रहा है।

जरायु (placenta), चूर्ण किये हुए घोंघे (crushed snails) एवं विस्रक तेल (mink oil)-जैसे अन्य पदार्थ,—जो आधुनिक (नकली) कान्तिवर्द्धक वस्तुओंमें पाये जाते हैं, वे जादूगरनीकी कड़ाहीकी याद दिलाते हैं।

उपर्युक्त पुस्तककी पृष्ठ-संख्या ३४ की नीचेकी दो पंक्तियोंसे लेकर पृष्ठ- संख्या ३५ की सत्रहवीं पंक्तितक—'The CosmeticTrade' (कान्तिवर्द्धक वस्तुओंका व्यापार) शीर्षकसे—

पिछली शताब्दीमें उत्तरी गोलार्द्ध (नार्दन) से तिमि-मत्स्य (ह्वेल मच्छ) को समाप्तप्राय करनेके बाद अब ऐंटारक्टिक महासागरमें उसकी पुनरावृत्ति की जा रही है। ९० फुटतक लंबे तथा १०० टनसे भी अधिक भारी इन जीवोंकी विस्फोटक भालोंसे हत्या की जाती है,* जो उनकी आँतोंमें जाकर धमाकेसे फट जाते हैं और जो फटनेके पश्चात् ह्वेलके अवशेषको चीरनेमें प्रायः एक घंटा या उससे भी अधिक समय लेते हैं—इतने बड़े काण्डकी तो कल्पना ही कठिन है। उस घोड़ेकी कल्पना कीजिये, जिसके पेटके अंदर बर्छी घुसा दी गयी हो और आपकी सड़कपर रक्त बहाते हुए कसाईखानेके भारयान (गाड़ी) को खींचता जा रहा है, जबतक कि घंटे भरमें वह मृत्युमुखमें न गिर पड़े। तब आपको अनुमान होगा कि इस तिमि-मत्स्यको कैसी भयंकर पीड़ामेंसे गुजरना पड़ता है।

कुछ अन्य देशोंके साथ मिलकर ब्रिटेन पिछले कई वर्षोंसे नकली मक्खन, साबुन, स्नेहक (लुब्रीकैंट—lubricant) तथा कान्तिवर्द्धक पदार्थोंके उत्पादनके लिये प्रतिवर्ष ५०,००० से भी अधिक इन उत्कृष्ट जीवों (तिमि-मत्स्यों—Whales) की हत्या कर रहा है एवं इन प्राणियोंके संतप्त शरीरके मांसको मनुष्योंको तथा उनके प्यारे कुत्ते-बिल्लियोंको खिलाया जाता है तथा विस्रक (mink) को खिलाया जाता है, जो फैशनके व्यापारके लिये पाले जाते हैं (जिनका तेल कान्ति-वर्द्धक वस्तुओंमें उपयोग होता है)।

---

* पहाड़ोंके सुरंगमें विस्फोटक लगाकर जैसे उन्हें उड़ाया जाता है, वैसे ही बारूदके बने विस्फोटक कोई खानेकी वस्तुमें लपेटकर ह्वेल-मच्छको खिला दिया जाता होगा। इतने बड़े मत्स्यका मुँह भी उसीके अनुरूप बड़ा होगा, जिससे वे उसको निगल जाते होंगे। उसमें बिजलीकी बैटरी रक्खी रहती होगी, जिसमें ऐसा हिसाब रक्खा जाता होगा कि उस विस्फोटक द्रव्यको निगलनेके अमुक समयके बाद वह फटता होगा और जिस तरह आतिशबाजीमें वस्तुएँ उड़ायी जाती हैं, वैसे ही उसमें रखी बर्छियाँ बारूदके बड़े वेगसे उड़कर उन ह्वेल मत्स्योंकी आँतें फाड़ देती होंगी। इससे उन्हें कितना कष्ट होता होगा और वे वेदनासे किस प्रकार छटपटाते होंगे, इसका अनुमान कौन कर सकता है। कितनी निर्दयताका काम है, यह।

सिकंदर और मृत्यु

(लेखक—श्रीश्यामलालजी)

यूनानके बादशाह सिकंदरके घोड़ोंकी टापें जहाँ पड़ीं, वहीं उसका शासन मान लिया गया। समस्त विश्वको जीत लेनेके बाद उसे विचार आया, यदि मृत्यु न हो तो यह विजय काम आये, अन्यथा सारा आयास धूलपर की गयी लीपा-पोतीके ही समान है। इसलिये उसने अपने सभी मन्त्रियोंको बुलाया और आदेश दिया, 'जाओ पृथ्वीका कोना-कोना छान डालो और मेरे लिये कोई ऐसी रसायन ढूँढ़ लाओ, जो मुझे अमर बना दे।'

सिकंदर-जैसे कठोर बादशाहका हुक्म था; अतः वजीर, मन्त्री, सेनापति—सब कोई रसायन ढूँढ़ने निकल पड़े। वे लोग अनेक पीर, पैगम्बर, साधु, संन्यासी, योगी-यतियोंसे मिले; परंतु कोई भी उनकी इस जटिल समस्याका समाधान करनेमें समर्थ न हुआ।

अच्छे-अच्छे वैद्य-हकीमोंको भी उन्होंने ढूँढ़ निकाला। वे भी निराश होकर बोले—'जिससे बूढ़ा जवान बन सके, ऐसी जड़ियाँ और मनुष्य देवरूपको प्राप्त हो सके, ऐसी रसायन तो बहुत हैं, पर मृत्युसे बचानेकी कोई औषध हमारे पास नहीं है।'

निराश होकर सब फौजी राजधानीके पास आ पहुँचे। उसी समय उन्हें अचानक एक फकीर मिला। किसीका उसकी ओर ध्यान ही नहीं गया; क्योंकि वे लोग अच्छे-से-अच्छे संत-फकीरोंसे निराश हो चुके थे। उन लोगोंकी परस्पर चर्चा सुनकर वह फकीर बोला—'अरे, इस जरा-सी बातके लिये तुम सारी दुनियामें भटक आये? बुलाओ अपने बादशाहको। मैं उसे अमर बनानेकी रसायन बताता हूँ।' उन लोगोंको पहले तो विश्वास नहीं हुआ, पर फकीरका तेजस्वी चेहरा देखकर वे बादशाहको बुलाने चल पड़े। उन्होंने दरबारमें उपस्थित होकर निवेदन किया, "हुजूर! आपके आदेशानुसार हम सारी दुनियामें भटक आये, पर सब लाचारी प्रकट कर रहे हैं। वे कहते हैं—'यदि हममें इतनी शक्ति होती तो अपने माँ-बापको ही हम क्यों मरने देते?' निराश होकर हम आपके चरणोंमें अपना मस्तक रखने आ ही रहे थे कि नगरके द्वारपर एक फकीर मिला। वह कहता है कि बादशाहको बुला लाओ, मैं उसे अमर होनेकी रसायन बताऊँगा।"

बादशाह तत्काल उठा और बोला—'चलो, मैं उस जगह चलनेको तैयार हूँ। मुझे तो बादशाह और गरीब, दोनोंको ही एक-सी मिलनेवाली मृत्युमें हेर-फेर करवाना है। मृत्युको भी छोटे-बड़ेका अन्तर समझना चाहिये।'

बादशाह बड़ी उतावलीसे फकीरके पास पहुँचा; बड़ी विनयसे उन्हें प्रणाम किया, उनके पैर दबाये, फिर अदबके साथ खड़ा हो गया। फकीरने मधुर स्वरमें कहा—'बादशाह! तुम अमर होना चाहते हो?'

'जी हाँ! प्रकृतिका अन्याय तो देखिये। जिस प्रकार निर्धन मृत्युका आलिङ्गन करता है, उसी प्रकार मुझ बादशाह-को भी करना पड़ेगा। गरीब खाली हाथों जाता है, मुझे भी खाली हाथों जाना पड़ेगा।'

'कोई चिन्ता नहीं। मैं तुम्हें अमर बना दूँगा। यहाँसे थोड़ी दूरपर एक अमरताल नामक तालाब है। तुम वहाँ जाना और उसका जल पी लेना। बस, तुम अमर बन जाओगे।'

'वह अमरताल किस दिशामें है?'

'उत्तर दिशामें', फकीरने खड़े होकर सिकंदरके मस्तक-को उस दिशामें घुमाया। सिकंदरको उसके हाथका स्पर्श शीतल और मधुर लगा।

सिकंदरने आँखें बंद कर लीं। जीवनमें उसे कभी ऐसी शान्ति नहीं मिली थी, जैसी आज मिल रही थी।

न हाथी न घोड़ा, न अङ्गरक्षक न सेना। सिकंदर पैदल ही उत्तर दिशाकी ओर दौड़ा जा रहा था। खाई, पहाड़ और नदी पार करता वह एक सँकरे नालेमें प्रविष्ट हुआ।

नालेके उस पार अमरताल स्थित था। सरोवरका जल काँचकी तरह चमक रहा था। पर अमरतालका वातावरण इतना गम्भीर? इसकी अपेक्षा तो कब्रिस्तानका वातावरण कम गम्भीर होता है। यहाँ तो अमरत्वका उल्लास और उत्साह मूर्तिमान् होना चाहिये, पर बादशाहको अधिक विचार करनेका समय नहीं था। उसे तो अमर बनना था। अमरतालका जल पीनेके लिये वह वेगसे आगे बढ़ा। वह

टेढ़ा होकर पानीका चुल्लू भरकर उसे पीने ही जा रहा था कि कहींसे कोई गम्भीर स्वरमें कहता सुनायी पड़ा, 'भले आदमी ! यह पानी पीकर व्यर्थ ही दुःखी मत हो।'

बादशाहको आश्चर्य हुआ। निश्चय ही मनुष्यके मनमें बैठा शैतान ऐसे ही समय उसे भ्रममें डालता है।

बादशाहने फिर चुल्लू भरा। फिर वही आवाज आयी। तब बादशाहने रोषसे कहा—'भूत-प्रेत, डाकिनी, मानव या दानव ! तुम्हारे समक्ष चक्रवर्ती सम्राट् सिकंदर खड़ा है। सिकंदरको सीख देनेकी कौन हिम्मत कर रहा है ? जो भी हो, शीघ्र यहाँ आये।'

उन शब्दोंकी तालावके किनारेपर प्रतिध्वनि हुई। तालावका जल गोलाकार घूमने लगा। थोड़ी देरमें ही पानीमेंसे एक मगरमच्छ बड़े परिश्रमसे शरीर घसीटता हुआ आगे आया। उसकी आँखें बिल्कुल धुँधली पड़ गयी थीं, पैर भी काम नहीं दे रहे थे। सारी चमड़ी ढीले तकियेकी भाँति पिलपिली एवं खोलकी भाँति लटक रही थी। अवस्था लगभग पाँच हजार वर्ष होगी।

बादशाह उसे देख रहा था। उसके मनमें स्वतः दया आ गयी। वह बोल पड़ा, 'अरे ! तुम्हारा भी यह कोई जीवन है !'

मगरमच्छ बड़ी कठिनाईसे किनारेकी बालूपर आया और हाँफता हुआ बोला, 'सुखी मनुष्य ! मैंने ही तुझे सावधान किया था। भूलकर भी इस तालावका पानी मत पीना।'

'कारण ?' बादशाहने रोषसे पूछा।

'कारण !' मगरमच्छने बादशाहसे कहा, 'अरे अंधे ! जरा अपने चारों ओर तो देखो !' उसने चारों ओर नजर घुमाकर देखा तो किनारेपर बड़े-बड़े मगरमच्छ सुस्त, निराश और निष्क्रिय पड़े तड़प रहे थे।

बादशाहने कहा, 'अरे ! ये सब अमरतालका पानी पीकर भी सुस्त क्यों पड़े हैं ?'

मगरमच्छने उत्तर दिया, 'यदि पड़े न रहें तो करें क्या ? जिस भूलको करनेसे मैंने तुम्हें रोका था, वह हम कर बैठे हैं। यह पानी हमने पिया है और मौत हमसे दूर जा बैठी है। जीवनकी ताजगी हम बिल्कुल खो बैठे हैं। जीवनका अन्त हमें तो दीखता नहीं। मनुष्यके जैसे जोंक चिपट जाती है, वैसे ही हमसे जीवन चिपट गया है। शरीर क्षीण हो गया हो, अङ्ग काम न करते हों तो जीना कैसे अच्छा लगे ? अहा, कितनी मीठी होती है मृत्यु, जैसे नव-जीवनका एक प्रवेश-द्वार हो।'

'ठीक है, ऐसे दुःखी जीवनसे तो मौत अच्छी है।' बादशाहने कहा। बादशाह अमरतालके किनारेसे प्यासा ही लौट पड़ा। परंतु वह चतुर था। आया हुआ लाभ हाथसे निकल जाने दे, ऐसा मूर्ख नहीं था। मार्गमें उसे विचार आया—'अरे, वह योगी अमर जवानी दे दे, तभी तो अमर जीवनका मूल्य है। जवानीके बिना जीनेका क्या आनन्द ?'

उसने फकीरके चरणोंमें पड़कर कहा, 'महायोगी ! अमरतालका पानी तो तभी पिया जा सकता है, जब आप मेरी जवानीको अमर बनानेकी रसायन बतायें।' योगीने हँसकर कहा, 'अमरतालके उस पार एक वन पड़ता है। वह यौवन-वन है। वहाँके वृक्षका फल खाना। जवान बने रहोगे।'

यौवन-वन तो यौवन-वन ही था। उसके किनारे सुन्दर अमर वृक्षोंके झुंड थे। वृक्षोंपर अमरफल प्रचुर मात्रामें लटक रहे थे।

बादशाहने फल तोड़नेकी इच्छासे ज्यों ही हाथ बढ़ाया कि एक भयंकर कोलाहल सुनायी दिया। बादशाहने चारों ओर दृष्टि दौड़ाकर देखा, भयंकर लड़ाइयाँ चल रही थीं। कितने ही अलमस्त जवानोंने भयंकर क्रोधके अभिभूत होकर मार-काट मचा रखी थी। खूनके तो तालाब भरे थे। यह मेरा, यह मेरी। हम मालिक, हमारी सत्ता है—इस तरहकी चीत्कार सर्वत्र उठ रही थी। बादशाह यह देख व्याकुल हो उठा। उसने चिल्लाकर कहा, 'भाइयो ! लड़िये मत ! भाईचारा सीखिये ! यौवनका महत्त्व जानिये !' यह सुनकर कुछ लोग लड़ते-लड़ते ठहर गये और कुछ बोले, 'लड़ाई ही तो हमारा जीवन है। अनन्त कालसे लड़नेके सिवा हमारे पास कुछ बचा ही नहीं है। यह मत समझना कि हम एक दूसरेके लिये पराये हैं। हममेंसे कोई किसीका बाप है, कोई भाई है, कोई बहन है, कोई बेटा है। किंतु सम्बन्धोंको हम भूल चुके हैं। कभी न मरनेवाले बापके लिये बेटेके मनमें प्रेम नहीं। नित्य प्रति छातीपर ही रहनेवाली माँके लिये बेटेके हृदयमें प्यार नहीं। सब अमर हैं। इसलिये जिस वस्तुकी आवश्यकता होती है, उसके लिये लड़ना पड़ता

है। हमलोग अधिक, वस्तुएँ कम हैं, मनुष्यको मनुष्य खाने लगे, तभी काम चल सकता है । पर ऐसा हो कैसे, हमलोग तो अमर हैं।'

बादशाह बोला—'तुमलोग मेल-जोलसे नहीं रह सकते? मानवता और सत्कर्मके विषयमें कुछ भी नहीं सोच सकते?'

'बादशाह! तुम समझदार होकर भी भूल क्यों कर रहे हो? जहाँ मृत्युकी रमणीयता होती है, वहीं सत्कर्मके वृक्ष लहलहाते हैं। जहाँ वृद्धावस्थाकी शान्ति होती है, वहीं मानवताके विषयमें कुछ विचार होता है। पाप-पुण्यका विचार तो मृत्यु लाती है। धधकते हुए शोलों-जैसी जवानीने हमें खिंचे हुए धनुष-जैसा उग्र बना डाला है। जीवनकी अमरता एवं अजरताने शुभाशुभका विवेक ही भुला डाला। जीवन-उद्यानको हरा-भरा बनाये रखनेवाली मृत्युका विचार और वृद्धत्वकी समझदारी जहाँ होती है, वहाँ एक दूसरेके लिये स्थान खाली कर देता है। एक पका हुआ फूल कुम्हला जाता है तो दूसरे नये फूलकी सुगन्ध फैलने लगती है। कैसी सुखद परम्परा है।' बादशाह अमरफलको देखे बिना ही लौट पड़ा। उसे शीघ्र ही इस जगत्में आ जाना था। इस जगत्-जैसी सुव्यवस्थित परम्परा और सुन्दर जीवन कहीं भी नहीं था। वह फकीरके चरणोंमें गिर पड़ा।

फकीरने सिकंदरके सिरपर हाथ रखा हुआ उठाया। जैसे कोई नींदसे उठा हो, उसी तरह सिकंदर जागा और बोला—'श्रीमान्! जिस जगत्में हम जी रहे हैं, वह कितना मधुर है। हम व्यर्थ ही इसकी निन्दा करते हैं। कितना सुव्यवस्थित है इस जगत्का तन्त्र! कितनी मिठास है यहाँ! और मृत्यु! अहा, कैसी मीठी चीज हमें भेंट रूपमें मिली है। हम इससे व्यर्थ डरते हैं। जीवनकी प्रत्येक अवस्था कितनी सुन्दर है।'

फकीरने बादशाहको आशीर्वाद देते हुए कहा—'मनुष्य कर्तव्यसे अमर होता है, उत्साहसे अजर रहता है, प्रार्थनासे प्रफुल्लित रहता है और परोपकारसे चिरंजीव बनता है। इससे अधिक सुन्दर कुछ भी नहीं है। इस जगत्की, जिसमें हम रह रहे हैं, इन सुख-दुःखकी, जिन्हें हम रोज सह रहे हैं, कोई निन्दा न करे। इनसे मानव कितनी शोभा पाता है।'

व्यक्तित्वका विकास

(लेखक—श्रीशिवानन्दजी)

आधुनिक विज्ञान एवं तकनीकके आधारपर मानव-सभ्यताने विविध दिशाओंमें अद्भुत उन्नति की है और मानवको उसपर गर्व होना स्वाभाविक है। विज्ञान और तकनीकने जीवनमें कल्पनातीत सुख-सुविधा ला दी है, किंतु प्रतिद्वन्द्वितामय संघर्ष, मानसिक तनाव, विषैला वातावरण इत्यादि समस्याएँ भी खड़ी कर दी हैं और शान्तिको तो मानो छीन ही लिया है। मानव अपनी ही सभ्यताके बोझमें कुचला जा रहा है और भौतिक उन्नतिके प्रतिफल उसके लिये एक सरदर्द बन गये हैं।

कैसी विडम्बना है कि सुख और सुविधाकी सामग्रियोंका प्रसार होनेके साथ चिन्ताएँ और अशान्ति बढ़ती जा रही हैं। साहित्यिक एवं शैक्षिक प्रसारके साथ घृणा, ईर्ष्या, द्वेष और भयका वातावरण फैलता जा रहा है, विश्व-स्तरपर सेवा-संस्थाएँ बननेके साथ पारस्परिक सद्भाव एवं प्रेम लुप्त होता जा रहा है, पौष्टिक आहारके सेवनके साथ दुर्बलता, थकावट और स्वास्थ्यभङ्ग होते जा रहे हैं। उत्कृष्ट औषधोंके उपलब्ध होनेपर भी रोग-विमुक्ति नहीं हो रही है, ज्ञानवृद्धि होनेके साथ ही व्यक्तिगत एवं समाजगत सुरक्षाका अभाव बढ़ता जा रहा है। स्थायीरूपसे शान्ति एवं आनन्दकी प्राप्ति किस प्रकार हो, जीवनमें अभयका समावेश कैसे हो, पारस्परिक प्रेमभावका उदय कैसे हो, शक्ति एवं सबलता कैसे उपलब्ध हों, नीरोगता एवं स्वास्थ्य कैसे उपलब्ध हों, व्यक्ति एवं समाजके जीवनमें सुरक्षाके भावका उदय कैसे हो—यह एक समस्या हो गयी है। मानव प्रकृतिसे दूर हटता जा रहा है और उसके जीवनमें सरलता समाप्त होती जा रही है। शिक्षाका प्रसार होनेपर भी आधुनिक सभ्यताके प्रभावके कारण व्यक्तित्वका निर्बाध विकास नहीं हो रहा है और मनोग्रन्थियाँ व्यक्तिके जीवनको बोझिल बना रही हैं। पश्चिमी देश जिन बातोंपर पछता रहे हैं, भारतके लोग अनुकृतिके द्वारा उन्हें अपना रहे हैं। यह एक दुर्भाग्यका विषय है।

इस युगमें ही जब कुछ तथाकथित चतुर लोग कह रहे हैं कि विज्ञानने धर्मको निरस्त कर दिया है, विनाशके कगारपर खड़ी हुई मानवताकी आत्मरक्षाके लिये तथा सुख-शान्तिके लिये अध्यात्मकी अत्यधिक आवश्यकता हो गयी है। मानवको अध्यात्म-औषधकी कभी इतनी आवश्यकता नहीं हुई, जितनी इस युगमें है, यद्यपि यह विज्ञान और तर्कका युग है।

भारतीय चिन्तनके आधारपर ग्रन्थिरहित व्यक्तित्वका

विकास होना न केवल सम्भव है, अपितु सरल एवं सहज है। भारतीय विचारधारा एवं स्वस्थ भारतीय परम्पराओंका प्रसार होना नितान्त आवश्यक है। आज भारतमें बेकारी, बेरोजगारी, गरीबी, आर्थिक विषमता इत्यादि जन-जीवनको कटु बना रहे हैं; किंतु शाश्वत मूल्योंकी अवमानना, अनुशासनहीनता, फैशनपरस्ती, उच्छृङ्खलता तो अभिशाप बनकर सामाजिक व्यवस्थाको अस्त-व्यस्त कर रहे हैं। परिवर्तन एवं प्रगतिके नामपर अस्वस्थ जीवन-पद्धतियाँ अपनायी जा रही हैं। आधुनिक सभ्यता भौतिकतापर आधारित है और इसके प्रभावसे जडवाद फैल रहा है। अध्यात्ममार्गपर चलनेसे ग्रन्थि-रहित विकास होना तथा मनोग्रन्थियोंका पूर्ण निर्मूलन अथवा ग्रन्थिच्छेदन होना अवश्य ही सम्भव है। जडताके साथ प्रगाढ़ सम्बन्ध होनेपर मानवकी मनोग्रन्थियाँ भी दृढ़ हो जाती हैं। यदि मनमें संसार बसा हुआ है तो ग्रन्थियाँ ही बसी हुई हैं। हम संसारमें रहकर और सारे लोक-व्यवहारको करते हुए भी संसारमें न फँस सकें, यही ग्रन्थियोंसे मुक्तिका श्रेष्ठ उपाय है। भारतीय विचारधारा हमें संसारमें जलस्थित कमलकी भाँति निर्लेप रहना सिखाती है।

संसार कर्मभूमि है। हम सब अपना कर्तव्यकर्म करें, किंतु संसारकी क्षणभङ्गुरता, भौतिक भोगोंकी निस्सारता तथा मोहका खोखलापन समझकर संसारमें कदापि न फँसें। यह कोई पलायन नहीं है, बल्कि स्वस्थ वैराग्यभाव है, जिसके बिना हम समुचित प्रकारसे कर्तव्यपालन भी नहीं कर सकते। संसारका भौतिक आकर्षण कम होनेपर ही ग्रन्थियाँ निर्मूल हो सकती हैं। संसारके भौतिक नाते शिथिल होनेपर ही जडतासे मुक्ति मिलती है तथा मनुष्य स्वस्थ-चिन्तन कर सकता है। भौतिकताका दास होकर मनुष्य ग्रन्थियोंसे जकड़ा ही रहेगा। उन्मुक्त व्यक्ति उन्मुक्त चिन्तन एवं उन्मुक्त व्यवहार कर सकता है। विद्वान् व्यक्ति तो अनेक हैं, किंतु उन्मुक्त व्यक्ति बहुत कम होते हैं। परमात्माके साथ आध्यात्मिक सम्बन्ध जुड़नेपर अथवा आत्मसाक्षात्कार होनेपर मनुष्य पूर्ण निर्ग्रन्थ हो सकता है—

भिद्यते हृदयग्रन्थिश्छिद्यन्ते सर्वसंशयाः।
क्षीयन्ते चास्य कर्माणि तस्मिन् दृष्टे परावरे॥
(मुण्डक० २।२।८)

'कारण और कार्यस्वरूप परमात्माका साक्षात्कार होनेपर हृदयकी ग्रन्थियोंका भेदन हो जाता है, समस्त संदेहोंका निराकरण हो जाता है तथा समस्त कर्मोंका क्षय हो जाता है।' ग्रन्थि-छेदनका श्रेष्ठ उपाय अध्यात्मकी राहपर चलकर प्रभुके साथ एक प्रगाढ़ व्यक्तिगत नाता जोड़ना है, प्रभुके साथ तादात्म्य स्थापित करना है। प्रभुके साथ नाता होनेपर जडता नष्ट हो जाती है और संसारके साथ भौतिक बन्धन शिथिल हो जाता है। जिस अनुपातमें मनुष्य भौतिक बन्धनसे मुक्त होता है, उसी अनुपातमें मनोग्रन्थि भी निर्मूल हो जाती है। प्रभुके साथ नाता स्थापित होनेपर स्वस्थ वैराग्यका उदय हो जाता है। मनुष्यमें दीनता नहीं रहती और न वह विषम स्थितियोंसे पलायन करता है—'न दैन्यं न पलायनम्।' प्रभुके साथ नाता होना 'योग' कहलाता है। योगके अनेक प्रकार हैं।

गीताने कर्मयोगका संदेश दिया है। मनुष्य कर्म किये बिना क्षणभर भी नहीं रह सकता। किंतु कर्म कैसे करें? प्रायः मनुष्य स्वार्थसे प्रेरित होकर कर्म करते हैं और आशा-निराशामें फँसकर व्यर्थ ही शक्ति खोते रहते हैं और फलके अनुकूल-प्रतिकूल होनेपर सुखी-दुःखी हो जाते हैं। कर्मयोगी स्वार्थसे प्रेरित नहीं होता, बल्कि परमार्थसे प्रेरित होता है तथा सब कर्म प्रभुकी प्रसन्नताके लिये, प्रभुप्रीत्यर्थ करता है। वह अपने लिये कुछ नहीं करता। वह कर्तव्यपालनकी दृष्टिसे कर्म करता है तथा फल प्रभुपर छोड़ देता है—

'कर्मण्येवाधिकारस्ते मा फलेषु कदाचन।'
(गीता २।४७)

'कर्मयोगीका अधिकार कर्म करनेमात्रमें ही है, फलमें कभी नहीं।' वह कर्मफलकी वासनासे मुक्त होता है। उसकी कर्म न करनेमें प्रीति नहीं होती तथा वह कर्मक्षेत्रसे पलायन नहीं करता। कर्मयोगी प्रभुके साथ जुड़कर कर्म करता है, अतएव उसमें आसक्ति नहीं होती—

'योगस्थः कुरु कर्माणि सङ्गं त्यक्त्वा धनंजय।'
(२।४८)

यही समत्वयोग है—सम भावमें रहना तथा फलसे विचलित न होना। कर्मयोगी सुख-दुःख, लाभ-अलाभ, जय-पराजयमें सम रहता है। काम (इच्छा) से प्रेरित होकर कर्म करनेपर फलकी आशा होती है तथा फल मिलनेपर सुख-दुःख होता है। कर्मयोगी निराशी (निराश नहीं, आशामुक्त) होकर प्रभुप्रीत्यर्थ उत्साहसे कार्य करता है और प्रत्येक फलको समभावसे ईश्वर-इच्छाके रूपमें स्वीकार कर लेता है। उसके जीवनमें निराशा (फ्रस्ट्रेशन) का प्रभाव कदापि नहीं होता।

कर्मयोगी श्रमकी प्रतिष्ठाको समझता है तथा किसी

श्रमको भी निकृष्ट नहीं समझता । उसे जो भी कर्म करना पड़ता है, वह उसे रुचि एवं ध्यानसे करता है ।

गीताका उपदेश है कि मनुष्यको काम (व्यक्तिगत इच्छा, महत्त्वाकाङ्क्षा) का पूर्ण-परित्याग कर देना चाहिये । मनुष्यको प्रदत्त परिस्थितिमें कर्तव्यानुसार, प्रभुप्रीत्यर्थ कर्म करना चाहिये । कामनासे आशा, निराशा, चिन्ता, भय, आशङ्का, अस्थिरता उत्पन्न होते हैं और कामकामीको कदापि शान्ति नहीं मिलती । जीवनमें संघर्षकी आवश्यकता है, किंतु उसका उद्देश्य कामनापूर्ति नहीं होना चाहिये । कामनाकी विफलतासे ग्रन्थियोंका जन्म होता है एवं ग्रन्थियाँ प्रगाढ़ होती हैं । कामनाका निर्मूलन मानो ग्रन्थियोंका निर्मूलन है । चाह मिटनेपर चिन्ता भी मिट जाती है ।

समाज प्रभुका एक विराट् रूप है—

'सीय राममय सब जग जानी । करउँ प्रनाम जोरि जुग पानी ॥'

निःस्वार्थ समाज-सेवा प्रभुकी पूजा ही है । जिसने सेवा-धर्मको अपना लिया, उसने जीवनका सुख ही पा लिया । सेवाका अर्थ है—स्वार्थ छोड़कर त्याग और बलिदानकी राहको स्वीकार करना ।

'सेवाधर्मः परमगहनो योगिनामप्यगम्यः ।'

'सेवाधर्म योगियोंके लिये भी अगम्य है, अत्यन्त कठिन है ।' सेवाभावसे प्रेरित होकर समाजकी सेवा करनेसे मनुष्यकी ग्रन्थियोंका छेदन हो जाता है, विशेषतः अहं-ग्रन्थिका । दीन-दुःखीकी सेवाको प्रभुसेवा मानना मनुष्यकी भावनाओंको पवित्र कर देता है तथा अनेक मूल प्रवृत्तियोंका उदात्तीकरण (सबलीमेशन) हो जाता है । सेवासे प्राप्त सुख अनिर्वचनीय है । स्वयं कष्ट उठाकर दूसरोंकी सेवा करनेवाला मनुष्य धन्य होता है । सेवाधर्मको अपनानेपर मनुष्य संकीर्णताके दायरोंसे ऊपर उठता जाता है और उसके 'स्व' का विस्तार हो जाता है । संकीर्णता मृत्यु है और विस्तार (व्यापक होना) जीवन है । मोह संकीर्ण होता है, प्रेम व्यापक होता है ।

जब हृदय सेवाभावसे परिपूर्ण हो जाता है, तब मनुष्यकी अहं-ग्रन्थिका उदात्तीकरण हो जाता है, मिथ्या अहंकार नहीं रहता और वह किसी मामलेको व्यक्तिगत प्रतिष्ठाका प्रश्न नहीं बनाता । उसके लिये सेवा, परोपकार ही सर्वोपरि होता है । वह ईर्ष्या, द्वेष और घृणासे मुक्त हो जाता है । उसे कोई ऊँचा-नीचा नहीं दीखता । संतोंने दीन-दुःखी जनकी सेवा करना परम पुण्य समझा है ।

सेवाव्रतीके लिये प्राणिमात्र सेव्य होता है । व्यक्ति कुटुम्बके लिये, कुटुम्ब राष्ट्रके लिये और राष्ट्र मानवताके लिये होता है । सेवाव्रत लेनेपर व्यक्ति मानवताका उपासक हो जाता है । 'वसुधैव कुटुम्बकम्—सारा विश्व एक कुटुम्ब है ।' सम्प्रदाय, जाति, वर्ण आदिकी संकीर्णता मानववादीको छू भी नहीं सकती । मानवमात्र एक है । वह सबके कल्याणकी कामना करता है—

सर्वे भवन्तु सुखिनः सर्वे सन्तु निरामयाः ।
सर्वे भद्राणि पश्यन्तु मा कश्चिद् दुःखभाग्भवेत् ॥

मानवमात्रके हितमें व्यक्तिका हित भी निहित होता है । मानववादीके हृदयमें सम्पूर्ण मानवमात्रके लिये ही प्रेम उमड़ता रहता है । सेवाव्रती परम उदार होता है और उसका व्यक्तित्व प्रेमपूर्ण हो जाता है । प्रेमका अर्थ है—सेवा, त्याग, बलिदान, क्षमा, सहनशीलता । प्रेमपूर्ण व्यक्तित्व ही ग्रन्थिरहित हो सकता है । अहं-ग्रन्थि प्रेमसे गल जाती है । महात्मा गांधी कहते थे—'मुझे अपनेको घटाते-घटाते शून्य बना देना चाहिये (I must reduce myself to zero).' जो मनुष्य निरभिमान एवं नम्र हो जाता है, उसका व्यक्तित्व मधुर हो जाता है । वह लोक-व्यवहारमें सदा संतुलित रहता है । वह किसीके आगे दीन होकर न गिड़गिड़ाता है, न किसीको अहंकार अथवा क्रोधमें गाली ही देता है—

उमा जे राम चरन रत बिगत काम मद क्रोध ।
निज प्रभुमय देखहिं जगत केहि सन करहिं बिरोध ॥

उसमें आत्मबल एवं मनोबलका उदय हो जाता है और सबपर उसके माधुर्यकी छाप लग जाती है । वह घृणाको प्रेमसे, क्रोधको क्षमासे जीतता है । हठधर्मी उसके प्रभावके सामने निस्तेज हो जाते हैं । यदि उसे किसीको दण्ड देना पड़ता है तो वह प्रेम एवं सद्भावसे प्रेरित होकर तथा घृणा एवं प्रतिशोध छोड़कर ही दण्ड देता है । वह पापसे घृणा करता है, पापीसे नहीं । महान् संत तो इतने सहनशील एवं क्षमाशील हो जाते हैं कि उन्हें दण्ड देनेकी आवश्यकता ही नहीं रहती और उनकी सहिष्णुता एवं क्षमा आततायीको भी धीरे-धीरे सहिष्णु एवं क्षमावान् बना देती है । प्रेमपूर्ण व्यक्तित्वका प्रभाव अमित होता है । भगवान् बुद्ध, महावीर एवं ईसाके उदाहरण हमारे सामने हैं ।

मानव-समाजके प्रति प्रेम ही प्रभुके प्रति उन्मुख होकर भक्तिका रूप ग्रहण कर लेता है । जीव प्रभुके सामने आत्मसमर्पण कर देता है और अपनी इच्छाओं तथा चिन्ताओंकी गठरीको भी समर्पित कर देता है । वह प्रभुके प्रति क्षण-क्षण कृतज्ञता प्रकटकर गद्गद हो जाता है और

अपनेको कृतकृत्य समझ लेता है । भक्तिभावके द्वारा भावात्मक विवेचन (emotional catharsis) हो जाता है, प्रेमाश्रुओंसे ग्रन्थियाँ धुल जाती हैं । मन निर्मल हो जाता है । निर्मल व्यक्ति सरल हो जाता है । सरलता ही सुख और शान्तिके मार्गका प्रथम सूत्र है, प्रथम पाठ है । भगवान्‌के भक्तको प्रभुका विधान ही मङ्गलमय दीख पड़ता है और उसे किसी भी वस्तुसे क्षोभ नहीं होता । परमात्माके साथ जुड़कर वह सशक्त हो जाता है और उसमें हीनताका भाव लुप्त हो जाता है । परमात्माका विश्वास उसके लिये अद्भुत सम्बल हो जाता है ।

प्रभुभक्त प्रभुका उपकरण बन जाता है । मैं प्रशासक हूँ, मैं मन्त्री हूँ, मैं शक्ति-सम्पन्न व्यक्ति हूँ, मैं धनी हूँ, मैं निर्धन हूँ, मैं दीन हूँ—इस भावके स्थानपर, मैं प्रभुका यन्त्र हूँ, उपकरण हूँ, निमित्तमात्र हूँ तथा प्रत्येक परिस्थितिमें प्रभु-प्रेरणा पाकर प्रभु-प्रीत्यर्थ आचरण करता हूँ—यह भाव उसके मनमें उत्पन्न हो जाता है । उसे प्रभुप्रदत्त शक्तिका भान होता है, किंतु अभिमान नहीं होता । समस्त शक्तियोंके मूलस्रोत प्रभुके साथ भक्तिके द्वारा जुड़नेपर व्यक्तिमें रहस्यमयी शक्तियोंका प्रादुर्भाव हो जाता है ।

ज्ञानयोगका मार्ग ग्रहण करनेपर भी मनुष्यकी अहं-ग्रन्थिका उदात्तीकरण हो जाता है । मैं जड देह नहीं हूँ, मैं चैतन्य हूँ, मैं सत्-चित्-आनन्द हूँ । संसारके नाते मिथ्या हैं और मोह अज्ञान है । मैं ईश्वरका अंश हूँ, अतएव अमर हूँ—इस प्रकार ज्ञान होनेपर सांसारिक बन्धन शिथिल हो जाते हैं और मोह छूट जाता है । सीमित मैं 'अहं ब्रह्मास्मि' में विलीन हो जाता है ।

ध्यानयोगके द्वारा मनुष्य गहरे स्तरपर परमात्मासे सम्बन्ध जोड़ लेता है । ध्यानका अभ्यास मनुष्यको निर्मल एवं पवित्र बना देता है । मनुष्यकी ग्रन्थियोंका छेदन हो जाता है तथा उसका व्यक्तित्व निखर जाता है ।

प्रभुके साथ एक सच्चा नाता स्थापित होनेपर साधक स्वाधीन हो जाता है । उसे अपने लिये कुछ नहीं चाहिये तथा उसके पास अपना कुछ भी नहीं होता । उसे शरीर भी अपना नहीं दीखता और वह अपने लिये शरीरकी भी इच्छा नहीं करता । वह अपने सुखके लिये बाह्य वस्तुओंके अधीन (पराधीन) नहीं रहता, वह सुखके विषयमें सर्वथा स्वाधीन होता है ।

अध्यात्मके मार्गपर चलनेसे व्यक्तित्वका स्वस्थ विकास हो सकता है और मानवको जीवनमें स्थायी सुख एवं शान्ति प्राप्त हो सकते हैं ।

तुम्हारे चरण !

(लेखक—श्रीहरिकृष्णदासजी गुप्त 'हरि')

नाथ !

तुम्हारे चरण मेरा सर्वस्व हैं । मुझ दीन-हीन-अकिंचनके ये ही एकमात्र आश्रय हैं; इनतक ही, बस, मुझ अगतिकी गति है ।

मेरे श्रान्त-क्लान्त चरण इन परमगति-प्रदाता चरणोंका अनुसरण करके, इनके अनुगामी होकर—भले ही घुटरुओं चलते शिशुके सदृश ही गिरते-पड़ते दिन-प्रतिदिन, पल-पल मंजिलके निकट पहुँच रहे हैं ।

मेरे हारे-थके हाथ—शिथिल पड़कर इन सुकुमार चरणोंको चाँपकर बिना कुछ भी किये, सम्पूर्ण करणीय कर्म कर चुके हैं; इनकी मुट्ठियाँ भरकर सहज ही सब कुछ मुट्ठीमें भर चुके हैं ।

मेरा मूढ़ता-ग्रस्त मस्तिष्क ज्ञान-कन्दुकसे खेलते इन चरणोंको अपनेमें आसीन करके ज्ञानकी महान् महिमासे महिमान्वित एवं अपूर्व गरिमासे गौरवान्वित हो उठा है ।

मेरा रस-शून्य हृदय इन रसार्णव चरणोंको अपनेसे चिपटाकर स्वयं रस-निर्झर हो उठा है, प्यासा स्वयं अब जन-जनकी—जन-जनके कण-कणकी प्यास बुझा रहा है ।

मेरा ज्ञान-अज्ञान परिचित-अपरिचित चरणोंपर समर्पित होकर इन्हें अपनेमें विलीनकर सब कुछ जाननेवाला हो गया है—अपनेसहित समूचे जगत्‌को तत्त्वतः जान रहा है ।

इन चरणोंको पाकर—इनमें अपने आपको खोकर मैं तुम्हें पा गया हूँ……'तुम' हो गया हूँ और इस प्रकार मैंने होने-पानेको एक सिरेसे निःशेष कर दिया है ।

हाँ, तुम्हारे चरण मेरा सर्वस्व हैं । मुझ दीन-हीन-अकिंचनके ये ही एकमात्र आश्रय हैं; इनतक ही, बस, मुझ अगतिकी गति है ।

प्रार्थना

तड़पता इसलिये हूँ कि तड़पनेसे प्राणधन मिलते हैं

मेरे प्राणधन !

कभी-कभी मेरे मनमें यह जिज्ञासा होती है कि सर्वप्रथम मेरा परिचय तुमसे कब हुआ था, किस क्षण पहली बार तुम मेरे अपने हुए थे। इस जीवनमें तो वह घड़ी याद नहीं आती, जब पहले-पहल तुम्हारा नाम मेरे कानोंमें पड़ा, पहली बार मेरे नेत्रोंने तुम्हारी छवि निहारी। लगता है, जैसे मैं इस जन्मसे भी पहले खूब लंबे समयसे तुम्हें जानता रहा हूँ। सच ही मेरे-तुम्हारे प्रेमकी अवधि अनन्त युगोंकी है—अनन्त जन्मोंकी है।

कभी सोचने लगता हूँ—क्या मैं अनन्त युगोंसे प्यासा ही हूँ ? क्या मैं अनन्त जन्मोंसे तुमसे बिछुड़ा ही हूँ ? मेरे ये प्राण फिर किस धातुसे निर्मित हैं कि अगणित जन्मोंके भीषण विरह-तापसे भी पिघले नहीं हैं ? अनन्त युगोंसे प्यासे रहकर भी तड़पते-तड़पते निःशेष नहीं हो सके हैं। अनन्तकालके वियोगके पश्चात् भी ये जीवन-धारण किये हुए ही हैं ?

ऐसा भीषण अपराध मुझसे किस जन्ममें हुआ, जिसका प्रायश्चित्त अनन्त युगोंकी इस विषम वियोग-यातनाके बाद भी अबतक पूर्ण नहीं हो पाया, जिसकी सजा आगे भी न जाने कितने जन्मों, कितने युगोंतक विरह-व्यथाके रूपमें दी जाती रहेगी ? मेरे हृदयधन ! क्या तुम इतने कठोर शासक हो ? सचमुच क्या तुम इतने लंबे दण्डविधान कर डालते हो ? मेरा हृदय तो नहीं मानता। तब क्या वियोग सजा न होकर पुरस्कार है ? प्यास अभिशाप न होकर वरदान है ? क्या तड़पना भी दुर्भाग्य होकर सौभाग्य है ?

हाँ, एक बात अवश्य है। वियोग जीवनका अवलम्ब अवश्य है। मिलनकी लालसा नहीं होती, दर्शनकी प्यास नहीं होती, तुम्हारे लिये हृदयमें तड़पन नहीं उठती तो क्या यह जीवन टिक पाता ? चाह, प्यास और तड़पन जीवनके साथ सदासे ही हैं, इसलिये जीवनके चिर सहचर हैं, अविच्छेद्य अङ्ग हैं।

अकेला मैं ही क्यों, यह सम्पूर्ण सृष्टि ही तुमसे मिलनेकी प्यास हृदयमें लिये तड़प रही है। संसारभरके वाद्य एक ही विकल विरह-रागिणी बजा रहे हैं। रुदनका ही एक व्यापक स्वर रात-दिन पक्षी गाये जा रहे हैं। सृष्टिके कण-कणमें वियोग-व्यथाकी तन्त्री अविश्रान्तरूपसे बज रही है। यह प्रकृति-सुन्दरी सोलहों शृङ्गार किये किसीके मिलनहेतु अविराम चली जा रही है। इसके हृदयमें जो मिलनकी चाह बसी हुई है, वह अबतक पूरी नहीं हो सकी।

तुम्हीं कहो, क्या जन-जनके, कण-कणके हृदयमें तड़पन नहीं है ? सभी तो विरह-सागरमें आकण्ठ डूबे हुए हैं। इस सृष्टिका अणु-अणु युगों-युगोंसे तड़प रहा है। यह व्यथा, यह तड़पन, कब, कहाँसे और कैसे आयी ? क्या यह सृष्टिकी जन्मसङ्गिनी नहीं ? सृष्टिका स्वरूप ही क्या प्यास, वियोग और तड़पन नहीं है ?

यदि ऐसी बात है तो तुमने ऐसी दुर्भाग्यपूर्ण सृष्टि क्यों रची ? सभीको रोते-बिलखते, तड़पते, व्यथा पाते छोड़कर कहाँ चले गये तुम ? क्यों छिप गये, कहाँ तिरोहित हो गये ? क्यों नहीं आकर मिलते ? आकर सबकी प्यास सदैवके लिये क्यों नहीं मिटाते ? क्यों बिछुड़े हो और कबतक बिछुड़े रहोगे ?

पानीमें डूबते हुए किसी प्राणीको कभी देखा है ? पानीसे बाहर निकलनेके लिये वह कितनी तेजीसे छटपटाता है ! तबतक तड़पता ही रहता है, जबतक डूब नहीं जाता। बुझते हुए दीपककी लौ कितनी तेजीसे टिमटिमाती है ? जलसे बिछुड़नेपर मछली कितना तड़पती है ? क्षण-क्षणमें उसका तड़पना बढ़ता ही जाता है। इसी प्रकार तो मेरे प्राण भी तड़पते हैं। जबसे तुम बिछुड़े हो, तभीसे तड़प रहे हैं। चाहता हूँ, यह तड़पना बढ़े, खूब बढ़े। तड़पें, खूब तड़पें—इतना तड़पें कि केवल तड़पन शेष रह जाय। तड़पन, तड़पन, केवल तड़पन—क्षण-क्षण तड़पन, दिन-रात तड़पन। यह मेरा जीवन केवल तड़पन-ही-तड़पन बन जाय। तड़पना ही सृष्टिका स्वरूप है, सृष्टिका प्रारब्ध है। तड़पनेसे ही प्राणधन मिलेंगे, तब तड़पनेमें बुराई क्या है ? इसीलिये तड़पता हूँ। कबसे तड़प रहा हूँ, कबतक तड़पता रहूँगा—इसे वही जानता है, जिसके लिये तड़प रहा हूँ।

—तुम्हारा ही एक अपना

दुष्टता-निवारणमें सहयोग देना धर्मका एक अङ्ग है

(लेखक—डॉ० श्रीरामचरणजी महेन्द्र, एम्० ए०, पी-एच्० डी०)

गीतामें भगवान् श्रीकृष्णने धर्मका एक मर्म बताया है—

यदा यदा हि धर्मस्य ग्लानिर्भवति भारत।
अभ्युत्थानमधर्मस्य तदाऽऽत्मानं सृजाम्यहम्॥
परित्राणाय साधूनां विनाशाय च दुष्कृताम्।
धर्मसंस्थापनार्थाय सम्भवामि युगे युगे॥
(४।७-८)

अर्थात् इस विश्वमें जब-जब नाना रूपोंमें धर्मका पतन और अधर्म (पाप, दुष्टता, बुराई, पतन) की अभिवृद्धि होती है, तब-तब मैं दुष्टता-निवारणके हेतु जन्म लेता हूँ (और पापको दूर करता हूँ)। मैं साधुओं (सत्पुरुषों, सज्जनों, उत्तम आदर्शों) की रक्षाके लिये, दुष्टों और पापियोंके विनाशके लिये और समाज तथा संसारमें धर्म-स्थापना (नैतिक मूल्योंके प्रचार)के लिये युग-युगमें अवतार लेता हूँ।

प्रश्न उठता है कि हमारे समाज और संसारमें दुष्टता, बुराई और पाप क्यों बढ़ते हैं ?

क्या इसका कारण यह है कि पुण्य और सत्यकी अपेक्षा समाजमें पाप और असत्यके तत्त्व अधिक हैं ? क्या सज्जनोंकी अपेक्षा दुष्टोंकी संख्या अधिक है ? उत्तरमें आप कहेंगे कि पाप और दुष्टताके तत्त्व अधिक नहीं हैं। दुष्टोंकी संख्या भी सज्जनोंकी अपेक्षा अधिक नहीं है। मनुष्य भगवान्‌की सर्वश्रेष्ठ रचना है, इसलिये पतित लोगोंकी संख्या कम ही है। पुण्याचारकी अपेक्षा पापाचार कम ही है। यदि पापाचार पुण्य-आचरणसे अधिक हो जायगा तो समाज हिंसक नर-पशुओंसे भर जायगा। आज भी मनुष्यरूपमें देवता अधिक हैं, असुर अपेक्षाकृत कम ही हैं। भलाईके आधारपर ही यह समाज टिका हुआ है। सत्य और शिव तत्त्व अधिक हैं।

फिर बुराई क्यों बढ़ती दीखती है ? असुरोचित कार्य—जैसे हिंसा, लूट-खसोट, पशुबलि, हत्याएँ, रिश्वतखोरी, कालाबाजार, मुकदमेबाजी, अश्लीलता, कामलोलुपता आदि क्यों बढ़ रहे हैं ?

समाजमें दुष्टता इसलिये बढ़ती है कि अच्छाई (अर्थात् सज्जनों और सत्पुरुषों) द्वारा उसके प्रतिरोधका समुचित और संगठित प्रयत्न नहीं किया जाता। सज्जनोंकी यह कमजोरी है कि वे जल्दी ही संगठित होकर पापियों और दुष्टोंके विरुद्ध मोर्चा नहीं लेते। वे शरारती तत्त्वोंसे लोहा लेनेमें देर करते रहते हैं; जबकि दुष्टलोग बड़ी जल्दी शरारतके कामोंको करनेके लिये एक दूसरेसे मिल-जुलकर संगठित हो जाते हैं। इसी कारण असुरोंने अनेक बार देवताओंको परेशान किया था। खेदका विषय है कि भले आदमी बुराईको देखते रहते हैं, पर उस दुष्टताकी रोक-थामके लिये कुछ भी नहीं करते। सज्जन पृथक्-पृथक् पड़े रहते हैं। एक दुष्ट दस सज्जनोंके सामने पाप-आचरण कर बैठता है। वे उसे नहीं रोकते।

यदि भले आदमी, जो संख्यामें बहुत अधिक होते हैं, चाहें तो दुष्टोंको बात-की-बातमें पीसकर रख दें। सज्जनता अब भी इतनी अधिक है कि यदि वह संगठित हो जाय तो असामाजिक तत्त्वोंका यह साहस ही न हो कि वे उत्पातके लिये सिर उठा सकें।

भले आदमियोंकी एक कमजोरी है—आप इसे चाहे गुण कहें या अवगुण। वे स्वभावसे विनयशील, सभ्य, शिष्ट और अति संकोची होते हैं। वे बुराईको आसानीसे दबा सकते हैं, किंतु उसके निवारणमें दिलचस्पी नहीं लेते। वे स्वयं कष्ट सह लेते हैं, पर दुष्टताको नहीं रोकते। सज्जन पुरुष झगड़ों, मारपीटकी रोकथाम, हिंसा दूर करने, मांस-शराबके व्यवहार, अश्लील नाच-गानों, झूठे मुकदमोंको दूर करने आदिके अच्छे कामोंमें व्यर्थ ही नहीं पड़ना चाहते।

फल यह है कि आज हमारे समाजमें असामाजिक तत्त्व असुर, दनुज, दोषी और दुर्गुणी लोग चुपचाप पनपते रहते हैं। शुभतत्त्व मानो सोये पड़े रहते हैं। सज्जन आँखें खोले रखकर भी जैसे अन्धे बने रहते हैं। आदर्शवादी समुदाय हाथ-पाँव होते हुए भी जैसे निष्क्रिय पड़ा रहता है। यह उदासीनता ठीक नहीं। सत्पुरुषों, सज्जनों और धार्मिक वृत्तिके लोगोंके लिये यह संकोचशील उपेक्षावृत्ति कदापि उचित नहीं है। भले आदमियोंकी इस उदासीनताके कारण ही आज समाजमें तरह-तरहके ढोंग, अत्याचार, मुनाफाखोरी, मिलावट, छल-कपट, रक्तपात और अशान्ति चली आ रही

है। हमारे आस-पास कँटीली झाड़ियोंकी तरह भाँति-भाँतिकी बुराइयाँ तेजीसे बढ़ रही हैं। अनेक क्षेत्रोंमें अनुशासनहीनता और कानूनको भंग करनेकी दुर्घटनाएँ हो रही हैं। ग्रामीण-क्षेत्रोंमें धोखेबाजी, हिंसा और लूटपाटका बोलबाला है। दस्यु-समस्या उठ खड़ी है। अपराधवृत्ति, कुमन्त्रणाएँ, दुष्कर्म, व्यभिचार आदि अभिवृद्धिपर हैं। होटलोंमें भक्ष्य-अभक्ष्यका कोई विवेक नहीं है। ये तथा इसी प्रकारके अन्य बहुत-से कुकर्म इसीलिये पनप रहे हैं कि अच्छाई (अर्थात् सत्पुरुषों) द्वारा उनके विरोधके संगठित प्रयत्न नहीं किये गये हैं। सज्जनलोग दुष्टताको न दबानेके लिये दोषी हैं। वे दुष्टताको खुली छूट दे रहे हैं। पाप-निवारण धर्मका अङ्ग है। इस दिशामें प्रयत्न करनेकी अतीव आवश्यकता है।

सरकार और कानूनद्वारा तो असामाजिक तत्त्वोंको दबाने और दुष्टताको सजा देनेके प्रयत्न चले आ रहे हैं, किंतु समाजसुधारकों, हितैषियों, परोपकारी संस्थाओं, प्रबुद्ध और विवेकशील नागरिकोंका भी यह महान् नैतिक उत्तरदायित्व है कि आस-पास फैली हुई दुष्टताकी रोकथामके प्रयत्न करते रहें। संगठन बनाकर अराजकता, अनुशासनहीनता, पर-पीड़न, स्वार्थवासना, लोलुपताका दृढ़तासे प्रतिरोध करते रहें। शरारती लोगोंको आतङ्क न फैलाने दें। दुष्टताके विरुद्ध जनमत जाग्रत् करें। सद्विचार फैलायें। लोगोंमें जहाँ अच्छाई देखें, उसे भरसक प्रोत्साहित करें। शठताके सामने संकोचवश घुटने न टेक दें।

सम्भव है आप दुष्टता, शरारत और शठताको पूरी तरह न दबा पायें, पर आपको देखकर और भी सात्त्विक प्रवृत्तिके लोग आपके साथ आगे आयेंगे और दुष्टता-निवारण करनेमें आपकी सहायता करेंगे। आपसे जितना भी बन पड़े, वह अवश्य कीजिये। अपने अच्छे मित्रोंको इस शुभ कार्यमें साथ लीजिये। आपके सत्साहससे कुछ अंशोंमें पापवृत्ति कम हो जायगी। धर्मका एक उद्देश्य व्यक्ति और समाजका सुधार है, गुणों और अच्छाईका विस्तार है। देवत्वको प्रोत्साहन और असुरत्वको निरुत्साहित करनेसे धर्म-प्रसारका कार्य होगा।

याद रखिये, समाजसे पाप दूर करनेका उत्तरदायित्व भी विवेकशील सत्पुरुषोंका ही है। अच्छी समाजोपयोगी प्रवृत्तियोंको संगठित होकर असामाजिक तत्त्वोंको दबाना चाहिये। भले आदमी भी संगठित हों और ऐसा सामाजिक वातावरण विकसित करें, जिसमें दुष्प्रवृत्तियोंको पनपनेका मौका ही न मिले। यदि शुभशक्तियाँ संगठित नहीं होंगी तो दुष्टता बढ़ती ही जायगी। इस कार्यमें कठिनाइयाँ भी आयेंगी और निराशाएँ भी; पर समाजको दुष्टतासे बचानेके कामको यथाशक्ति करना ही चाहिये।

यदि इस मेरे हृदय-द्वारको बंद कभी तुम पाना!

[विश्वकवि श्रीरवीन्द्रनाथ ठाकुरके 'यदि ए आमार हृदय दुयार बंद रहेगो कभू'—गीतका भावानुवाद]

यदि इस मेरे हृदय-द्वारको बंद कभी तुम पाना!
द्वार तोड़ प्राणोंमें आना, प्रभु! तुम लौट न जाना!!
यदि न किसी दिन हृत्तन्त्रीपर बजे तुम्हारा नाम रसाकर,
तब भी रहना खड़े दया कर, प्रभु! तुम लौट न जाना॥
यदि न किसी दिन तवाह्वानपर बजे सुप्तिमें मम जागृति-स्वर,
वज्र-विद्ध कर मुझे जगाना, प्रभु! तुम लौट न जाना॥
किसी दिवस यदि तव आसनपर बिठा अन्यको दूँ प्रयत्न कर,
चिरकालिक अधिराजा मेरे, प्रभु! तुम लौट न जाना॥
यदि इस मेरे हृदय-द्वारको बंद कभी तुम पाना!
द्वार तोड़ प्राणोंमें आना, प्रभु! तुम लौट न जाना!!

—माधवशरण

एक दुःखिनी बहनको परामर्श

सम्मान्या बहनजी ! सादर हरिस्मरण ।

आपने लिखा कि आपके जीवन-सहचरका स्वभाव आपके स्वभावसे बिल्कुल मेल नहीं खाता। वे धर्मकी बातें जानते हुए भी मानते बिल्कुल नहीं तथा सर्वथा आसुरी विचारके हैं, जिसके कारण आप सदा दुःखी रहती हैं । उनकी दृष्टिमें धर्म-अधर्ममें कोई भी अन्तर नहीं है, धर्म नामकी कोई वस्तु उनके लिये जैसे है ही नहीं । धर्मकी बात वे सुनना भी नहीं चाहते । आपको उनके ढंग देखकर उनपर तरस आता है और आप उनके भविष्यको लेकर दिन-रात चिन्तित रहती हैं । उनके आचरण भी शुद्ध नहीं हैं, इत्यादि । आप यह भी जानती हैं कि हिंदू नारीको अपने पतिके दोष देखने भी नहीं चाहिये, उनकी चर्चा तो किसीके सामने करनी ही नहीं चाहिये । ऐसी दशामें उनके दोषोंका उल्लेख करनेमें आपके मनमें ग्लानि होना स्वाभाविक है—यद्यपि आपने उनके दोषोंकी बात निन्दाके भावसे नहीं, अपितु उनके हितकी दृष्टिसे, उनके सुधारके लिये लिखी है, अतः इसमें कोई दोषकी बात नहीं है । इस सम्बन्धमें मेरे आपके लिये तीन सुझाव हैं । इनमेंसे जो भी आपको सुसाध्य लगे, उसीको आप काममें ला सकती हैं—

(१) अपने पतिदेवको सन्मार्गपर लानेका सर्वश्रेष्ठ उपाय तो मेरी समझसे यह है कि आप उनमें भगवद्भावना करें और उन्हें साक्षात् परमेश्वर मानकर मन-ही-मन उनके चरणोंमें प्रार्थना करें कि 'प्रभो ! अपना यह रूप बदल दीजिये ।' अवश्य ही यह प्रार्थना करनी चाहिये मन-ही-मन और उन्हें साक्षात् भगवान् समझते हुए । सम्भव है, आपकी प्रार्थनामें यथेष्ट बल न होनेके कारण अथवा आपके भगवद्भावमें त्रुटि होनेके कारण आपको सफलता जल्दी न दीखे अथवा आपके विश्वासकी परीक्षा करनेके लिये भगवान् आपके सामने कुछ समयतक प्रतिकूल फल भी प्रकट कर दें अर्थात् आपके पतिदेवमें सुधार होनेकी अपेक्षा बुराई कुछ बढ़ती भी दीख सकती है । परंतु उस परिस्थितिमें आपको न तो घबराना चाहिये और न निराश ही होना चाहिये; अपितु अपनी प्रार्थनामें अथवा विश्वासमें कमी मानकर और भी दृढ़ विश्वासके साथ अत्यन्त आर्तभावसे प्रार्थना करते रहना चाहिये—इस निश्चयके साथ कि आपके पति बने हुए प्रभु आपकी प्रार्थना अवश्य स्वीकार करेंगे । अवश्य ही आपको अपने पतिदेवके सामने कुछ भी नहीं कहना चाहिये और उनके चरणोंमें अपने-आपको न्योछावर करते हुए उनके प्रति दोषबुद्धि न करके सर्वथा उनके अनुकूल बन जाना होगा । थोड़ी देरके लिये मान लें कि भगवान्‌के किसी मङ्गलमय विधानके अनुसार उनमें सुधार न भी हो; फिर भी आपके द्वारा तो इस रूपमें भगवच्छरणागतिकी ऊँची-से-ऊँची साधना बन पड़ेगी, जो यदि हृदयके सच्चे भावके साथ की जायगी तो कम-से-कम आपके लिये तो परम कल्याणका कारण बनेगी ही और भगवान्‌ने चाहा तो आपके पतिदेवमें भी उनके और आपके जीवनकालमें ही मनचाहा परिवर्तन लाकर रहेगी; क्योंकि यह साधना अमोघ है ।

(२) यदि यह साधना आपको कठिन प्रतीत

हो और बनती न दीखे—क्योंकि किसी भी ऐसे व्यक्तिमें, जिसमें हमें प्रत्यक्ष दोष दीखते हों, भगवद्भावका स्थिर रहना अत्यन्त कठिन है, तो दूसरा साधन यह है कि दयामय एवं सर्वसमर्थ भगवान्‌से उनकी सत्ता पतिदेवसे भिन्न मानकर आप अपने पतिदेवके सुधारके लिये—उनमें विवेक-बुद्धि जाग्रत् करनेके लिये कातर प्रार्थना करें। साथ ही वे धर्मके अनुकूल आचरण करें तथा आपकी हितभरी सलाह मानने लगें—इसके लिये आप उनके अनुकूल आचरण करें तथा उनके दोषोंको सहन करें, उद्विग्न न हों और प्रेमके द्वारा उन्हें अनुकूल बनायें। किसीमें परिवर्तन लानेकी जितनी शक्ति प्रेम एवं सद्व्यवहारमें है, उतनी सदुपदेशमें भी नहीं है; झगड़ा करनेमें अथवा भर्त्सनामें तो सर्वथा नहीं है। इस साधनमें भी बड़े धैर्य एवं आत्मविश्वासकी आवश्यकता होगी।

(३) अन्तिम उपाय यह है कि आप अपने पतिदेवके आचरणके प्रति सर्वथा उदासीन हो जायँ, उन्हें सुधारनेकी चिन्ता छोड़ दें अथवा सर्वोत्तम यह है कि उन्हें सुधारनेका भार सर्वसमर्थ एवं जीवमात्रके सुहृद् भगवान्‌के सबल कंधोंपर डाल दें और—

> तेरे भाएँ जो करौ भलौ-बुरौ संसार।
> नारायन तू बैठ कैं अपनौं भवन बुहार॥

—इस सिद्धान्तके अनुसार अपने सुधार—अपने कल्याणके साधनमें प्राणपणसे जुट जायँ और जीवन रहते भगवान्‌के शरणागत होकर मनुष्य-जीवनके चरम एवं परम फलको प्राप्त कर लें। अवश्य ही इसके लिये आपको घर छोड़कर कहीं जानेकी आवश्यकता नहीं है और न घरसे बाहर कहीं भी जाकर आप निरापद एवं पवित्र जीवन बिता सकती हैं। रहना होगा आपको घरमें ही और शरीरपर—जिसपर आपके माता-पिताने सम्पूर्ण अधिकार आपके पतिदेवको दे दिया है, निर्लेप भावसे उनकी, उनकी संतानकी एवं उनकी सम्पत्तिकी पूरी सेवा एवं सँभाल करते हुए अपने आत्माको भगवान्‌का दास या दासी मानकर अपने मनको सुखसागर भगवान्‌के अभय चरणोंसे निरन्तर जुड़ा रखनेकी चेष्टा कीजिये। बस, मेरी समझसे आपके लिये ये ही तीन साधन हैं, जिनमेंसे किसी एकको, जो आपको सुकर जान पड़े, अपनाकर आप शान्तिलाभ कर सकती हैं।

इसके अतिरिक्त आपके दो अन्य प्रश्नोंका उत्तर भी मैं अपनी अल्पमतिके अनुसार नीचे दे रहा हूँ—

पहला प्रश्न तो आपका मदिरापानके सम्बन्धमें है। उससे बुद्धि तो विकृत होती ही है, भले-बुरेका ज्ञान भी नष्ट हो जाता है। मदिरापानके निषेधका मूल कारण यह होता है कि उसे बनानेमें जौ, गुड़, अंगूर आदिको सड़ाया जाता है, जिससे असंख्य जीवोंकी हिंसा होती है।

दूसरा प्रश्न आपका सधवा स्त्रीके लिये एकादशी आदिका व्रत करनेके सम्बन्धमें है। इसका उत्तर यह है कि सधवा स्त्रीको कोई भी व्रत पतिकी आज्ञासे ही करना चाहिये और ऐसा कोई भी व्रत-उपवास नहीं करना चाहिये, जिससे पति-सेवामें बाधा आती हो।

शेष भगवत्कृपा।

आपका भाई,
चिम्मनलाल गोस्वामी

'मानस' एवं मानसकारका अभिनन्दन !

'रामचरितमानस' विमल संतन जीवन-प्रान।
हिंदुआन को वेदसम, जमनहि प्रगट कुरान ॥

—अब्दुर्रहीम खानखाना—कवि रहीम

× × ×

धन्य भाग्य मम, संत-सिरोमनि चरन-कमल तकि आयउँ।
वदन प्रसाद-सदन दृग भरि लखि सुख संदोह समायउँ ॥
कृपादृष्टि ते मम दिसि हेरेउ तत्त्व-स्वरूप लखायौ।
कर्म-उपासन-ग्यान-जनित भ्रम-संसय-मूल नसायौ ॥
हरिलीला गायौं, तेहि सुनि तनु पुलकित, मानस धीर।
सुधा-समान वचन कहि पोषेउ सुमिरत सिय-रघुबीर ॥
श्रीतुलसी सुचि संतसमागम अद्भुत अमल अनूप।
'सूरदास' जीवन-फल पायौ दरसन जुगल स्वरूप ॥

—सूरदास

× × ×

रामचरित सरसिज मधुप पावन चरित नितान्त।
जय तुलसी कवि-कुल-तिलक कविता-कामिनि-कान्त ॥ १ ॥
सुरसरि-धारा-सी सरल, पूत, परम रमणीय।
है तुलसीकी कल्पना कल्पलता कमनीय ॥ २ ॥
अमित मनोहरतामयी अनुपमता-आवास।
है तुलसी-रचना रुचिर बहु शुचि सुरुचि विकास ॥ ३ ॥
सकल अलौकिकता सदन सुंदर भाव उपेत।
है तुलसीकी कान्त कृति निरुपम कला निकेत ॥ ४ ॥
जबतक कवि-कुल-कल्पना करे कलित आलाप।
अवनि लसित तबतक रहे तुलसी-कीर्ति-कलाप ॥ ५ ॥

—पं० श्रीअयोध्यासिंहजी उपाध्याय 'हरि औध'

'मानस'का संदेश—२

'सोइ गुनग्य सोई बड़भागी। जो रघुबीर चरन अनुरागी॥'

'गुणवान् तथा बड़भागी वही हैं, जो श्रीरघुनाथजीके चरणोंका प्रेमी है।'

'मानस'के प्रणेता गोस्वामी श्रीतुलसीदासजी भगवान् श्रीरामचन्द्रजीके अनन्य भक्त थे। श्रीभरतजीके भावके प्रति विदेहराज श्रीजनकजीके वचन 'साधन सिद्धि राम पग नेहू' श्रीतुलसीदासजीके लिये भी अक्षरशः सत्य हैं। भगवान् श्रीराघवेन्द्रके चरणोंकी प्रीति ही श्रीतुलसीदासजीका साधन थी और वही उनकी सिद्धि थी। अपनी इसी निष्ठाको श्रीगोस्वामीजी महाराजने 'मानस'में विभिन्न रूपोंमें व्यक्त किया है। गत अङ्कमें हमने 'मानस'का संदेश शीर्षकसे विचार किया था कि 'मानस'के अनुसार 'जनम जनम रति राम पद'—अर्थात् 'जन्म-जन्ममें भगवान् श्रीसीतारामके श्रीचरणोंकी प्रीति ही एकमात्र प्राप्तव्य वस्तु है।' इसी भावको श्रीगोस्वामीजीने दूसरे शब्दोंमें इस रूपमें व्यक्त किया है—

'सोइ गुनग्य सोई बड़भागी। जो रघुबीर चरन अनुरागी॥'

अर्थात् भगवान् श्रीराघवेन्द्रके पतितपावन चरणोंका अनुरागी ही सच्चे अर्थमें सर्वगुणसम्पन्न है और वही वास्तविक रूपमें भाग्यशाली है। प्रस्तुत संदर्भमें कुछ वचनों एवं प्रसङ्गोंका विवेचन करते हुए हम 'मानस'के इसी संदेशपर विचार करेंगे।

श्रीरामचरितमानसमें अनेक प्रकारके प्रसङ्ग हैं और अनेक स्तरके पात्र हैं; परंतु किसी भी प्रसङ्गमें कैसा भी पात्र क्यों न हो, श्रीगोस्वामीजी महाराजने उसी पात्रको उसी समय बड़भागी, श्रेष्ठ, गुणज्ञ, वरेण्य आदि माना है, जब वह भगवान् श्रीरामचन्द्रके चरणोंका संस्पर्श प्राप्त करता है, या भगवान्के दिव्य रूपका दर्शन करता है अथवा भगवान्की अमोघ संनिधिकी उपलब्धि करता है अथवा भगवान्के चिन्मय धामका वास प्राप्त करता है अथवा भगवान् श्रीसीतारामकी सर्वमलापहारिणी एवं सर्वमङ्गलविधायिनी भक्ति उसके हृदयमें उत्पन्न होती है। इसके ठीक विपरीत जब भी जो पात्र भगवान् श्रीसीतारामके विमुख होकर विषयानुरागी होता है, या जिससे भगवान् विलग होते हैं अथवा इस विलगावमें जो-जो हेतु बनता है, श्रीगोस्वामीजी उसी क्षण उसे 'अभागी' कह देते हैं—

'सुनहु उमा ते लोग अभागी। हरि तजि होहिं विषय अनुरागी॥'

'मानस' के इस मर्मको हृदयंगम करते हुए हमें अपने लिये कर्तव्य निश्चय करना चाहिये तथा अपनी दृष्टिको भी उसी साँचेमें ढालकर प्रत्येक व्यक्तिके सौभाग्य एवं बड़प्पनको इसी कसौटीपर आँकना चाहिये।

देह धरे कर यह फलु भाई। भजिअ राम सब काम बिहाई॥
सोइ गुनग्य सोई बड़भागी। जो रघुबीर चरन अनुरागी॥
(सुग्रीव)

श्रीसुग्रीवजीने कहा—हे भाई! (अंगद-नल आदि) देह धारण करनेका यही फल है कि सब कामों (कामनाओं) को छोड़कर श्रीरामजीका भजन ही किया जाय। सद्गुणोंको पहचाननेवाला (गुणवान्) तथा बड़भागी वही है, जो श्रीरघुनाथजीके चरणोंका प्रेमी है।

परसत पद पावन सोक नसावन प्रगट भई तप पुंज सही।
देखत रघुनायक जन सुखदायक सनमुख होइ कर जोरि रही॥
अति प्रेम अधीरा पुलक सरीरा मुख नहिं आवइ बचन कही।
अतिसय बड़भागी चरनन्हि लागी जुगल नयन जल धार बही॥

श्रीरामजीके पवित्र और शोकका नाश करनेवाले चरणोंका स्पर्श पाते ही सचमुच वह तपोमूर्ति अहल्या (शिलारूपका परित्यागकर) अपने रूपमें प्रकट हो गयी। भक्तोंको सुख देनेवाले श्रीरघुनाथजीको देखकर, वह हाथ जोड़कर सामने खड़ी रह गयी। अत्यन्त प्रेमके कारण वह अधीर हो गयी; उसका शरीर पुलकित हो उठा; मुखसे वचन कहनेमें नहीं आते थे। वह अत्यन्त बड़भागिनी अहल्या प्रभुके चरणोंसे लिपट गयी और उसके दोनों नेत्रोंसे जल (प्रेम और आनन्दके आँसुओं) की धारा बहने लगी।

कहहिं परसपर कोकिलबयनीं। एहि बिआहँ बड़ लाभु सुनयनीं॥
बड़ें भाग बिधि बात बनाई। नयन अतिथि होइहहिं दोउ भाई॥

(जनकपुरवासिनी स्त्रियाँ)

(श्रीअवधसे बरात आ जानेपर) कोयलके समान मधुर बोलनेवाली (श्रीजनकपुरकी) स्त्रियाँ आपसमें कहती हैं—'हे सुन्दर नेत्रोंवाली बहनो ! इस विवाहमें बड़ा लाभ है। बड़े भाग्यसे विधाताने सब बात बना दी है कि ये दोनों भाई हमारे नेत्रोंके अतिथि हुआ करेंगे।'

तिभुवन तीनि काल जग माहीं। भूरि भाग दसरथ सम नाहीं॥
मंगलमूल रामु सुत जासू। जो कछु कहिअ थोर सबु तासू॥

—श्रीअयोध्यावासी

(पृथ्वी, अन्तरिक्ष और स्वर्ग) तीनों भुवनोंमें और (भूत, भविष्य, वर्तमान) तीनों कालोंमें दशरथजीके समान बड़भागी (और) कोई नहीं है। मङ्गलोंके मूल श्रीरामचन्द्रजी जिनके पुत्र हैं, उनके लिये जो कुछ कहा जाय, सब थोड़ा है।

जौं केवल पितु आयसु ताता। तौ जनि जाहु जानि बड़ि माता॥
जौं पितु मातु कहेउ बन जाना। तौ कानन सत अवध समाना॥
पितु बनदेव मातु बनदेवी। खग मृग चरन सरोरुह सेवी॥
बड़भागी बनु अवध अभागी। जो रघुबंस तिलक तुम्ह त्यागी॥ (माता कौसल्या)

हे पुत्र राम ! यदि केवल पिताजीकी आज्ञा हो तो माताको (पितासे) बड़ी जानकर वनको मत जाओ। किंतु यदि पिता और माता (कैकेयी)—दोनोंने वन जानेको कहा हो, तो वन तुम्हारे लिये सैकड़ों अयोध्याके समान है। वनके देवता तुम्हारे पिता होंगे, वनदेवियाँ माता होंगी तथा वहाँके पशु-पक्षी तुम्हारे चरण-कमलोंके सेवक होंगे। हे रघुवंशके तिलक ! वन बड़ा भाग्यवान् है, जो तुम वहाँ जा रहे हो और यह अवध अभागी है, जिसे तुमने त्याग दिया है।

पूजनीय प्रिय परम जहाँ तें। सब मानिअहिं राम के नातें॥
अस जियँ जानि संग बन जाहू। लेहु तात जग जीवन लाहू॥
भूरि भाग भाजनु भयहु मोहि समेत बलि जाउँ।
जौं तुम्हरें मन छाड़ि छलु कीन्ह राम पद ठाउँ॥ (माता सुमित्रा)

हे पुत्र लक्ष्मण ! जगत्में जहाँतक पूजनीय और परम प्रिय लोग हैं, वे सब रामजीके नातेसे ही (पूजनीय और परम प्रिय) माननेयोग्य हैं। हृदयमें यों जानकर, हे तात ! उन (श्रीरामचन्द्र) के साथ वन जाओ और

जगत्में जीनेका लाभ उठाओ ! मैं बलिहारी जाती हूँ; हे पुत्र ! मेरे समेत तुम बड़े ही सौभाग्यके पात्र हुए, जो तुम्हारे चित्तने छल छोड़कर श्रीरामजीके चरणोंमें स्थान प्राप्त किया है ।

सहज सनेह बिबस रघुराई । पूँछी कुसल निकट बैठाई ॥
नाथ कुसल पद पंकज देखें । भयउँ भागभाजन जन लेखें ॥

(श्रीनिषादराज)

श्रीरघुनाथजीने स्वाभाविक स्नेहके वश होकर (श्रीनिषादराजको) अपने पास बैठाकर कुशल पूछी । श्रीनिषादराजने उत्तर दिया—हे नाथ ! आपके चरण-कमलके दर्शनसे ही कुशल है (आपके चरणारविन्दोंके दर्शन कर) आज मैं भाग्यवान् पुरुषोंकी गिनतीमें आ गया ।

सुनत तीरवासी नर नारी । धाए निज निज काज बिसारी ॥
लखन राम सिय सुंदरताई । देखि करहिं निज भाग्य बड़ाई ॥

(यमुनाजीके) किनारेपर रहनेवाले स्त्री-पुरुष (यह सुनकर कि निषादके साथ दो परम सुन्दर सुकुमार नवयुवक और एक परमसुन्दरी युवती आ रही है) सब अपना-अपना काम भूलकर दौड़े और लक्ष्मणजी, श्रीरामजी और सीताजीका सौन्दर्य देखकर अपने भाग्यकी बड़ाई करने लगे ।

जेहि तरु तर प्रभु बैठहिं जाई । करहिं कलपतरु तासु बड़ाई ॥
परसि राम पद पदुम परागा । मानति भूमि भूरि निज भागा ॥

(वनवासके समय) जिस वृक्षके नीचे प्रभु जा बैठते हैं, कल्पवृक्ष भी उसकी बड़ाई करते हैं । श्रीरामचन्द्रजीके चरण-कमलोंकी रजका स्पर्श करके पृथ्वी अपना बड़ा सौभाग्य मानती है ।

अब हम नाथ सनाथ सब भए देखि प्रभु पाय ।
भाग हमारें आगमनु राउर कोसलराय ॥

(कोल-भील-वनचरवृन्द)

हे नाथ ! प्रभु (आप) के चरणोंका दर्शन पाकर अब हम सब सनाथ हो गये । हे कोसलराज ! हमारे ही भाग्यसे आपका यहाँ शुभागमन हुआ है ।

सो तुम्हार धनु जीवनु प्राना । भूरिभाग को तुम्हहि समाना ॥
यह तुम्हार आचरजु न ताता । दसरथ सुअन राम प्रिय भ्राता ॥
सुनहु भरत रघुबर मन माहीं । पेम पात्रु तुम्ह सम कोउ नाहीं ॥

(मुनि भरद्वाज)

हे भरत ! वह (श्रीरामचन्द्रजीके चरणोंका प्रेम) तो तुम्हारा धन, जीवन और प्राण ही है; तुम्हारे समान बड़भागी कौन है ? हे तात ! तुम्हारे लिये यह आश्चर्यकी बात नहीं है; क्योंकि तुम दशरथजीके पुत्र और श्रीरामचन्द्रजीके प्यारे भाई हो । भैया ! सुनो, श्रीरामचन्द्रके मनमें तुम्हारे समान प्रेमपात्र दूसरा कोई नहीं है ।

तेहिं पुर बसत भरत बिनु रागा । चंचरीक जिमि चंपक बागा ॥
रमा बिलासु राम अनुरागी । तजत बमन जिमि जन बड़भागी ॥

अयोध्यापुरीमें भरतजी अनासक्त होकर इस प्रकार निवास कर रहे हैं, जैसे चम्पाके बागमें भौंरा ।

श्रीरामचन्द्रजीके प्रेमी बड़भागी पुरुष लक्ष्मीके विलास (भोगैश्वर्य) को वमनकी भाँति त्याग देते हैं (फिर उसकी ओर ताकते भी नहीं) ।

आगें देखि राम तन स्यामा । सीता अनुज सहित सुखधामा ॥
परेउ लकुट इव चरनन्हि लागी । प्रेम मगन मुनिवर बड़भागी ॥

(श्रीसुतीक्ष्ण) मुनिने अपने सामने सीताजी और लक्ष्मणजीसहित श्यामसुन्दरविग्रह सुखधाम श्रीरामजीको देखा । प्रेममें मग्न हुए वे बड़भागी श्रेष्ठ मुनि श्रीरामके चरणोंके समीप लाठीकी तरह गिर गये ।

तात राम कहुँ नर जनि मानहु । निर्गुन ब्रह्म अजित अज जानहु ॥
हम सब सेवक अति बड़भागी । संतत सगुन ब्रह्म अनुरागी ॥ (श्रीजाम्बवान्)

हे तात (अङ्गद) ! श्रीरामजीको मनुष्य न मानो; उन्हें निर्गुण ब्रह्म, अजेय और अजन्मा समझो । हम सब सेवक अत्यन्त बड़भागी हैं, जो निरन्तर सगुण ब्रह्म (श्रीरामजी) में प्रीति रखते हैं ।

कह अंगद बिचारि मन माहीं । धन्य जटायू सम कोउ नाहीं ॥
राम काज कारन तनु त्यागी । हरि पुर गयउ परम बड़भागी ॥ (श्रीअङ्गद)

अङ्गदजीने मनमें विचारकर कहा—'अहा ! जटायुके समान धन्य कोई नहीं है । श्रीरामजीके कार्यके लिये शरीर छोड़कर वह परम बड़भागी भगवान्‌के परमधामको चला गया ।'

बड़भागी अंगद हनुमाना । चरन कमल चापत बिधि नाना ॥

परम भाग्यशाली अङ्गद और हनुमान् अनेकों प्रकारसे प्रभुके चरण-कमलोंको दबा रहे हैं ।

कारन कवन नाथ नहिं आयउ । जानि कुटिल किधौं मोहि बिसरायउ ॥
अहह धन्य लछिमन बड़भागी । राम पदारबिंदु अनुरागी ॥
कपटी कुटिल मोहि प्रभु चीन्हा । ताते नाथ संग नहिं लीन्हा ॥ (श्रीभरत)

क्या कारण हुआ कि नाथ (श्रीरामचन्द्रजी वनसे लौटकर) नहीं आये ? प्रभुने कुटिल जानकर मुझे कहीं भुला तो नहीं दिया ? अहा ! लक्ष्मण बड़े धन्य एवं बड़भागी हैं, जो श्रीरामचन्द्रजीके चरणारविन्दके प्रेमी हैं (अर्थात् उनसे अलग नहीं हुए) । मुझे तो प्रभुने कपटी और कुटिल रूपमें पहचान लिया, इसीसे नाथने मुझे साथ नहीं लिया ।

हरन सकल श्रम प्रभु श्रम पाई । गए जहाँ सीतल अवँराई ॥
भरत दीन्ह निज बसन डसाई । बैठे प्रभु सेवहिं सब भाई ॥
मारुतसुत तब मारुत करई । पुलक बपुष लोचन जल भरई ॥
हनूमान सम नहिं बड़भागी । नहिं कोउ राम चरन अनुरागी ॥

संसारके सभी श्रमोंको हरनेवाले प्रभुने (हाथी, घोड़े आदि बाँटनेमें) श्रमका अनुभव किया और (श्रम मिटानेको) वहाँ गये, जहाँ शीतल अमराई (आमोंका बगीचा) थी । वहाँ भरतजीने अपना वस्त्र बिछा दिया । प्रभु उसपर बैठ गये और सब भाई उनकी सेवा करने लगे । उस समय पवनपुत्र हनुमान्‌जी पवन (पंखा) करने लगे । उनका शरीर पुलकित हो गया और नेत्रोंमें (प्रेमाश्रुओंका) जल भर आया । (शिवजी कहने लगे—) हे गिरिजे ! हनुमान्‌जीके समान न तो कोई बड़भागी है और न कोई श्रीरामजीके चरणोंका प्रेमी ही ।

सुनु वायस तैं सहज सयाना। काहें न मागसि अस वरदाना ॥
सब सुख खानि भगति तैं मागी। नहिं जग कोउ तोहि सम बड़भागी ॥
जो मुनि कोटि जतन नहिं लहहीं। जे जप जोग अनल तन दहहीं ॥
रीझेउँ देखि तोरि चतुराई। मागेहु भगति मोहि अति भाई ॥
(भगवान् श्रीरघुनाथ)

हे काक! सुन, तू स्वभावसे ही बुद्धिमान् है। ऐसा वरदान कैसे न माँगता? तूने सब सुखोंकी खान भक्ति माँग ली, जगत्में तेरे समान बड़भागी कोई नहीं है। वे मुनि जो जप और योगकी अग्निसे शरीर जलाते रहते हैं, करोड़ों यत्न करके भी जिसको (जिस भक्तिको) नहीं पाते, वही भक्ति तूने माँगी। तेरी चतुरता देखकर मैं रीझ गया। यह चतुरता मुझे बहुत ही अच्छी लगी।

मोह जलधि बोहित तुम्ह भए। मो कहँ नाथ बिबिध सुख दए ॥
मो पहिं होइ न प्रति उपकारा। बंदउँ तव पद बारहिं बारा ॥
पूरन काम राम अनुरागी। तुम्ह सम तात न कोउ बड़भागी ॥ (श्रीगरुड़)

हे नाथ (श्रीकाकभुशुण्डिजी)! मोहरूपी समुद्रमें डूबते हुए मेरे लिये आप जहाज हुए। आपने मुझे बहुत प्रकारके सुख दिये (परम सुखी कर दिया)। मुझसे इसका प्रत्युपकार (उपकारके बदलेमें उपकार) नहीं हो सकता। मैं तो आपके चरणोंकी बार-बार वन्दना करता हूँ। आप पूर्णकाम हैं और श्रीरामजीके प्रेमी हैं। हे तात! आपके समान कोई बड़भागी नहीं है।

* * * * *

सुनहु उमा ते लोग अभागी। हरि तजि होहिं बिषय अनुरागी ॥

हे पार्वती! सुनो, वे लोग अभागे हैं, जो भगवान्को छोड़कर विषयोंसे अनुराग करते हैं।

× × × × ×

खल मनुजाद द्विजामिष भोगी। पावहिं गति जो जाचत जोगी ॥
उमा राम मृदुचित करुनाकर। बयर भाव सुमिरत मोहि निसिचर ॥
देहिं परमगति सो जियँ जानी। अस कृपाल को कहहु भवानी ॥
अस प्रभु सुनि न भजहिं भ्रम त्यागी। नर मतिमंद ते परम अभागी ॥
(भगवान् शंकर)

ब्राह्मणोंका मांस खानेवाले वे नरभोजी दुष्ट राक्षस भी वह परम गति पाते हैं, जिसकी योगी भी याचना किया करते हैं (परंतु सहजमें नहीं पाते)। हे उमा! श्रीरामजी बड़े ही कोमलहृदय और करुणाकी खान हैं। (वे सोचते हैं कि) राक्षस मुझे वैर-भावसे ही सही, स्मरण तो करते ही हैं। यह हृदयमें जानकर वे उन्हें परम गति (मोक्ष) देते हैं। हे भवानी! कहो तो, ऐसे कृपालु (और) कौन हैं? प्रभुका ऐसा स्वभाव सुनकर भी जो मनुष्य भ्रम त्यागकर उनका भजन नहीं करते, वे अत्यन्त मन्दबुद्धि और परम भाग्यहीन हैं।

ब्याधि असाधि जानि तिन्ह त्यागी। चलीं कहत मतिमंद अभागी ॥

('श्रीराम-वन-गमनका वरदान सर्वथा अहितकर है, यह समझाये जानेपर भी जब कैकेयीने सखियोंकी इस हितकर सीखको नहीं माना) तब सखियोंने रोगको असाध्य समझकर उसे छोड़ दिया। सब उस (कैकेयी) को मन्दबुद्धि अभागिनी कहती हुई चल दीं।

जाहु सुखेन बनहि बलि जाऊँ। करि अनाथ जन परिजन गाऊँ ॥
सब कर आजु सुकृत फल बीता। भयउ कराल कालु बिपरीता ॥

बहुबिधि बिलपि चरन लपटानी। परम अभागिनि आपुहि जानी॥ (श्रीकौसल्या)

माता कौसल्या बोलीं—'हे पुत्र राम! मैं बलिहारी जाती हूँ, तुम सेवकों, परिवारवालों और नगरभरको अनाथ करके सुखपूर्वक वनको जाओ। आज सबके पुण्योंका फल पूरा हो गया। कठिन काल हमारे विपरीत हो गया।' (इस प्रकार) बहुत विलाप करके और अपनेको परम अभागिनी जानकर माता (कौसल्या) श्रीरामचन्द्रजीके चरणोंमें लिपट गयीं।

कैकेई भव तनु अनुरागे। पावँर प्रान अघाइ अभागे॥
जौं प्रिय बिरहँ प्रान प्रिय लागे। देखब सुनब बहुत अब आगे॥
× × × ×
जीवन लाहु लखन भल पावा। सबु तजि राम चरन मनु लावा॥
मोर जनम रघुबर बन लागी। झूठ काह पछिताउँ अभागी॥ (श्रीभरत)

कैकेयीसे उत्पन्न देहमें प्रेम करनेवाले ये पामर प्राण भरपेट (पूरी तरहसे) अभागे हैं। जब प्रियके वियोगमें भी मुझे प्राण प्रिय लग रहे हैं, तब अभी आगे मैं और भी बहुत कुछ देखूँगा-सुनूँगा।........जीवनका उत्तम लाभ तो लक्ष्मणने पाया, जिन्होंने सब कुछ तजकर श्रीरामजीके चरणोंमें मन लगाया। मेरा जन्म तो श्रीरामजीके वनवासके लिये ही हुआ था। मैं अभागा झूठ-मूठ क्या पछताता हूँ?

नाथ करइ रावन एक जागा। सिद्ध भएँ नहिं मरिहि अभागा। (श्रीविभीषण)

हे नाथ! रावण एक यज्ञ कर रहा है। उसके सिद्ध होनेपर वह अभागा (रावण) सहज ही नहीं मरेगा।

बालक भ्रमहिं न भ्रमहिं गृहादी। कहहिं परस्पर मिथ्यावादी॥
हरि बिषइक अस मोह बिहंगा। सपनेहुँ नहिं अग्यान प्रसंगा॥
मायाबस मतिमंद अभागी। हृदयँ जमनिका बहुबिधि लागी॥
ते सठ हठ बस संसय करहीं। निज अग्यान राम पर धरहीं॥ (श्रीकाकभुशुण्डि)

बालक घूमते (चक्राकार दौड़ते) हैं, घर आदि नहीं घूमते, पर वे आपसमें एक दूसरेको झूठा कहते हैं। हे गरुड़जी! श्रीहरिके विषयमें मोहकी कल्पना भी ऐसी ही है, भगवान्‌में तो स्वप्नमें भी अज्ञानका प्रसङ्ग (अवसर) नहीं है। किंतु जो मायाके वश, मन्दबुद्धि और भाग्यहीन हैं और जिनके हृदयपर अनेकों प्रकारके पर्दे पड़े हैं, वे मूर्ख हठके वश होकर संदेह करते हैं और अपना अज्ञान श्रीरामजीपर आरोपित करते हैं।

रामहि भजहिं तात सिव धाता। नर पावँर कै केतिक बाता॥
जासु चरन अज सिव अनुरागी। तासु द्रोहँ सुख चहसि अभागी॥ (शूद्रके ब्राह्मण गुरु)

हे तात! शिवजी और ब्रह्माजी भी श्रीरामजीको भजते हैं, (फिर नीच मनुष्यकी तो बात ही कितनी है?) ब्रह्माजी और शिवजी जिनके चरणोंके प्रेमी हैं, अरे अभागे! उनसे द्रोह करके तू सुख चाहता है?

प्रौढ़ भएँ मोहि पिता पढ़ावा। समझउँ सुनउँ गुनउँ नहिं भावा॥
मन ते सकल बासना भागी। केवल राम चरन लय लागी॥
कहु खगेस अस कवन अभागी। खरी सेव सुरधेनुहि त्यागी॥
(द्विजदेहमें श्रीकाकभुशुण्डि)

सयाना होनेपर पिताजी मुझे पढ़ाने लगे। मैं समझता, सुनता और विचारता; पर मुझे पढ़ना अच्छा नहीं लगता था। मेरे मनसे सारी वासनाएँ भाग गयीं। केवल श्रीरामजीके चरणोंमें लौ लग गयी। हे गरुड़जी! कहिये, ऐसा कौन अभागा होगा, जो कामधेनुको छोड़कर गदहीकी सेवा करेगा।

पढ़ो, समझो और करो

(१)

बालकका अप्रतिम बलिदान

यह कहानी नहीं, प्रत्युत तेरहवीं शताब्दीके उस मासूम बालकसे सम्बन्धित ऐतिहासिक घटना है, जिसने अपना जीवन उड़ीसाके सूर्य-मन्दिरके लिये उत्सर्ग कर दिया था।

महाराजा नरसिंहदेवको एक विशाल मन्दिर बनानेकी इच्छा हुई। छः सौ फुट ऊँचे मन्दिरके शिखरपर एक विशाल कलश बैठानेकी योजना बनायी गयी। सोलह वर्ष व्यतीत हो गये, परंतु मन्दिर-निर्माण-कार्य पूरा नहीं हो सका। दो हजार टनका भारी प्रस्तर-कलश मन्दिरके शिखरपर स्थापित नहीं किया जा सका।

उड़ीसाके तत्कालीन वास्तुकलाके प्रसिद्ध अभियन्ता, कलाकार, योजनाके उच्चाधिकारी—सभी इस कार्यको पूर्ण करनेमें असमर्थ रहे। इस कारण लज्जाके साथ ही उन्हें भीषण रूपसे दण्डित होनेका भय भी था।

उन लोगोंके सौभाग्यसे अथवा भगवत्कृपासे एक दिन एक पंद्रहवर्षीय बालक अपने पिताके, जो उन कलाकारोंमें प्रधान थे, साथ मन्दिरकी कलाको देखता हुआ टहल रहा था। जन्मसे अपने पितासे अलग रहनेके कारण उसे भवन-निर्माण-कलाका ज्ञान नहीं था; तथापि उसने उसकी बनावटमें हुई त्रुटियोंको देख लिया, परंतु उन्हें वह शिष्टाचारके विरुद्ध समझकर कह नहीं सका। उसके पिताने यह स्वीकार किया कि वे मन्दिर-निर्माण-कार्य पूरा नहीं कर सकेंगे; क्योंकि कलशको शिखरपर स्थापित करनेमें उन्हें सफलता नहीं मिल रही थी। वे एक लज्जाजनक पराजयका अनुभव कर रहे थे। उन्होंने अपनी इस स्थितिसे पुत्रको भी अवगत कराया। बालक मुस्कुराया और उसने कहा—'इसकी त्रुटियोंको मैंने देख लिया है और उन्हें मैं ठीक कर दूँगा। अतएव किसीको चिन्तित अथवा भयभीत होनेकी आवश्यकता नहीं है।' पिताने पुत्रके निर्देशमें कार्य करवाया और प्रस्तर-कलश मन्दिरके शिखरपर सुशोभित हो गया।

प्रसन्नतासे पिताका हृदय खिल उठा। हर्षके साथ उन्होंने घोषणा की—'मन्दिर पूर्ण हो गया है।' परंतु अब एक नयी समस्या उत्पन्न हो गयी। यदि महाराजाको यह ज्ञात हो जायगा कि यह कार्य उन बारह सौ कलाकारोंद्वारा नहीं, अपितु एक छोटे बालकद्वारा सम्पन्न हुआ है तो निश्चय ही वे कलाकारोंको दण्डित करेंगे।

जैसे ही बालकने यह बात सुनी, उसने एक निर्णय लिया। वह मन्दिरके शिखरपर चढ़ा। भगवान् सूर्यदेवका स्मरण करते हुए उसने मन्दिरके पाससे बहती हुई नदीमें छलाँग मार दी। चारों ओरसे 'हाय! हाय!!' का चीत्कार उठा, पर बालक भगवान्के चरणोंपर समर्पित हो चुका था।

वह छोटा-सा बालक अपने पिता एवं बारह सौ कलाकारोंकी प्रतिष्ठा एवं जीवन-रक्षाके लिये अपने आपको न्योछावर कर अमर हो गया। आज भी जो सूर्य-मन्दिरके दर्शन करते हैं और बालकके बलिदानकी गाथा सुनते हैं, उनका मस्तक उस बालकके प्रति श्रद्धासे नत हो जाता है।

(२)

प्यारका जादू!

मेरे पिताजी पुलिस-विभागके कर्मचारी थे। बाल्यकालसे ही उनकी प्रकृति कुछ उग्र थी; फिर पुलिसके कार्यने उनके स्वभावको और भी अधिक उग्र बना दिया था। इस कारण हमलोग उनसे बहुत डरते थे। न जाने क्यों, मुझे बचपनसे ही चोरी करनेकी आदत पड़ गयी थी; परंतु घरमें इस बातका किसीको पता नहीं था। मेरे पिताजी बहुधा अपनी जेबमें बिना गिने ही रुपये रख दिया करते थे। उनमेंसे यदि दो-चार रुपये कम भी हो जायँ तो भी उन्हें उनका पता नहीं लग सकता था। मैं पिताजीकी जेबमेंसे रोज दो-चार रुपये निकाल लेता था। मेरी छोटी बहन मीनाके सिवा इस बातका किसीको पता नहीं था। किंतु वह मेरी इस बुरी आदतको किसीके सामने प्रकट नहीं करती थी, वह मौन रहती थी। शायद उसे मुझसे डर लगता था। इस प्रकार मेरी यह बुरी आदत आगे बढ़ रही थी।

कुछ दिनोंके पश्चात् पिताजीको संदेह होने लगा—'मेरी जेबसे थोड़े-थोड़े रुपये गायब होते रहते हैं।' अब वे गुप्तरूपसे सावधानी रखने लगे, किंतु चोरका पता नहीं लग रहा था। मैं भी पिताजीकी सावधानीसे सतर्क हो गया था कि यदि एक बार भी पकड़ा गया तो मारके रूपमें तमाम चोरीके रुपये वसूल हो जायँगे। मैंने सोचा कि इसका कुछ

उपाय करना चाहिये। एक-दो बार मैंने यह निश्चय भी किया कि अब चोरी नहीं करूँगा; किंतु मैं अपने मनपर काबू नहीं पा सका। मौका लगनेपर पिताजीकी जेबमेंसे रुपये निकाल ही लेता था। उन दिनों मैं कालेजमें पढ़ रहा था। मित्र-मण्डलीमें अपने स्टैंडर्डको बनाये रखनेके लिये पैसेकी भी अधिक आवश्यकता पड़ती थी। बहुत विचार करनेके बाद मैंने निश्चय किया कि अब कुछ ऐसा उपाय करना चाहिये, जिससे चोरीका काम चालू रहे, पैसे बराबर मिलते रहें और चोरका पता भी न चले। पिताजीको धोखा देनेका मैंने निश्चय किया।

एक दिन प्रातःकाल मौका पाकर मैंने पिताजीकी जेबमेंसे बीस रुपये चुरा लिये। बहन मीना उस समय मैट्रिक (एस्० एस्० सी०) में पढ़ रही थी। उस समय वह प्रातःकालीन स्कूलमें पढ़नेके लिये गयी हुई थी। मैंने धीरेसे मीनाकी एक किताबमें उन बीस रुपयोंको छिपा दिया। मैंने यह काम सुनियोजितरूपसे किया; कारण, बीस रुपये चोरी हो जानेका पता लग जानेकी विशेष सम्भावना थी और उस समय मेरी यह तरकीब मुझे बचानेमें सहायक होती। थोड़ी देर पश्चात् पिताजीको यह ज्ञात हो गया कि जेबमेंसे बीस रुपये गायब हो गये हैं। आजतक तो दो-चार रुपये ही गायब होते थे और आज···? एक साथ बीस रुपये गायब हो गये! पिताजीने घरमें सबसे पूछना आरम्भ किया।

मैंने अभिनयका आश्रय लिया। प्रथम तो मैंने अनजान बनकर पिताजीको विश्वासमें ले लिया और फिर इधर-उधर देखनेका अभिनय करने लगा, जैसे कि मैं पिताजीकी चोरीका पता लगानेमें उनकी सहायता कर रहा हूँ। धीरे-धीरे मीनाकी पुस्तकोंकी छान-बीन होने लगी। एक पुस्तकमेंसे दस-दस रुपयोंके दो नोट मिल गये।

मुझे लगा कि मेरा मार्ग साफ हो गया। अब भविष्यमें जब भी रुपये गायब होंगे, तब मीनाका ही नाम उन्हें चुराने-वालीके रूपमें लिया जायगा—चाहे मीना इसे स्वीकार करे या न करे; क्योंकि यहाँ तो प्रत्यक्ष प्रमाण मिल चुका था। अब चिन्ताकी कोई बात नहीं थी। मीना स्कूलसे लौटी। पिताजीने उसे अपराधी मानकर दण्ड देना आरम्भ किया। पिताजीका पुलिसवालों-जैसा मिजाज जो था!······ओह! आज भी उस दण्डका स्मरण आते ही मेरे रोंगटे खड़े हो जाते हैं। बुरी तरह पिटाई होनेपर मीनाने अपराध स्वीकार कर लिया।

दिन बीता, रात हुई; पर मुझे नींद नहीं आयी। मेरा हृदय मर्माहत था। उस दिन सायंकाल मुझे भोजन भी रुचिकर प्रतीत नहीं हुआ। मेरे अन्तर्द्वन्द्वमें इस कष्टका अनुभव हो रहा था कि आखिर मीनाने निर्दोष होते हुए भी अपराधको स्वीकार क्यों किया। मेरे मस्तिष्कका बोझ असह्य हो रहा था। किसी प्रकार रात्रि समाप्त हुई। दिन होनेपर मैंने मीनासे एकान्तमें प्रश्न किया—'तुमने अपराध स्वीकार क्यों किया?' उसने उत्तर दिया—'भैया! आप मेरे बड़े भाई हैं! मुझे हर परिस्थितिमें आपका सम्मान करना चाहिये। अतएव मैं आपका नाम कैसे लेती और पिताजी नाम जाने बिना शान्त होनेवाले नहीं थे। अतएव मैंने अपना नाम अपराधीके रूपमें ले लिया। बड़े भैयाके सम्मानके लिये जितना सहन किया जाय, कम ही है।'

मीनाका प्यारभरा उत्तर सुनकर मेरे हृदयमें ग्लानि उत्पन्न हो गयी—'मैं मीनाका बड़ा भाई हूँ, किंतु क्या मेरेमें बड़ा भाई होनेकी योग्यता है?' यह विचार उदय होते ही मेरा मस्तक मीनाके समक्ष झुक गया। बस, उसी दिनसे मैंने चोरी न करनेकी प्रतिज्ञा ले ली। उस दिनसे जैसे मेरा बड़ाभाईपना मिट गया और मीना मेरी बड़ी बहिन बन गयी। आज भी मेरा मन और मस्तिष्क—दोनों मीनाके सामने आते ही झुक जाते हैं। मीनाने उस दिन कितनी उत्तम भावना, कितना प्यार और कितनी सहनशक्तिका परिचय दिया—आज भी मेरा हृदय उनकी स्मृतिसे द्रवित हो रहा है। सचमुच विशुद्ध प्यारका जादू विलक्षण होता है।

'अखण्ड आनन्द' —अर्जुन राउलजी

(३)

निर्मम विधि

पण्डित श्रीकंजनाभजी मिश्र मेरे गाँव (धानापुर, वाराणसी) के निवासी थे। वे अत्यन्त सरल, स्नेही, हँसमुख, संस्कृतके विद्वान् एवं विनोदी थे। उनकी विनोदपूर्ण बातोंसे बालक, युवा और वृद्ध—सभी हँसने लगते और प्रसन्न हो जाते।

एक बार उनकी पीठमें बहुत बड़ा फोड़ा हो गया। पिताजी उन्हें देखने गये। श्रीमिश्रजी महाराज चारपाईपर पेटके बल लेटे हुए थे। फोड़ा इतना बड़ा था कि उनकी समूची पीठ सूज गयी थी। उसे देखकर ही उनकी पीड़ाका अनुमान हो सकता था। वे दायीं-बायीं करवट भी नहीं बदल सकते थे। केवल लंगोट पहने श्रीभगवान्‌का नाम ले-लेकर कराह रहे थे।

पिताजीने उनका समाचार पूछा तो उन्होंने अपनी

पीड़ाका वर्णन जिन शब्दोंमें और जिस प्रकार किया, उसे सुनकर उनकी अत्यन्त करुण स्थितिमें भी मुझे हँसी आ गयी। अद्भुत कष्ट-सहिष्णुता थी उनमें। निश्चय ही उनकी जीवनरक्षाकी आशा नहीं थी।

उनके चरणोंका स्पर्श कर पिताजी चलने लगे तो उनके पुत्र श्रीव्रजमोहनजी मिश्र पिताजीके साथ घरके बाहर आये। श्रीमिश्रजी अब दो-चार दिनोंमें ही विदा हो जायँगे, इस विश्वाससे उनके पुत्र श्रीव्रजमोहनजीने सूखी लकड़ियोंके ढेरकी ओर संकेत करते हुए मेरे पिताजीसे कहा—'भैया! ये लकड़ियाँ मैंने जुटा ली हैं। गेहूँ भी आ गया है। अब पिताजीके श्राद्धादिकी कोई चिन्ता नहीं है। मैंने सारी व्यवस्था कर ली है।'

श्रीमिश्रजी मेरे पिताजीको अत्यधिक प्यार करते थे। पिताजी जब भी घर जाते, श्रीमिश्रजी स्वयं डंडेके सहारे चलकर मेरे घर आते। चरण-स्पर्श करनेके पूर्व ही मङ्गलकर आशीष् देने लगते और घंटों मेरे घरपर बैठकर बातें करते रहते। बड़ा सुख मिलता उनकी बातोंसे। इन बातोंको स्मरणकर पिताजी बड़े दुःखी थे। उदास-मन घर लौटे और गोरखपुर चले आये।

लगभग तीन मास बाद मेरे पिताजी जब पुनः घर गये, तब दूसरे दिन उनकी प्रसन्नताकी सीमा नहीं थी। पिताजी बैठकेपर बैठे थे कि देखा, पूज्य पं० श्रीकंजनाभजी मिश्र अपनी लाठीके सहारे धीरे-धीरे बैठकेकी ही ओर आ रहे थे। पिताजी हर्षोल्लाससे उठकर खड़े हो गये और आगे जाकर श्रीमिश्रजीके चरणोंपर सिर रख दिया। आशीष् देते हुए श्रीमिश्रजी महाराज आकर चारपाईपर बैठ गये।

'मैंने सुना कि तुम कल आये तो मिलने चला आया, बेटा।' श्रीमिश्रजी महाराजने चारपाईपर बैठते ही पिताजीसे कहा। 'मैं तुम्हें सदा याद किया करता हूँ।'

पिताजी तो श्रीमिश्रजी महाराजकी प्राणरक्षा हो जानेसे अत्यन्त प्रसन्न थे। उन्होंने श्रीमिश्रजीसे पूछा—'आपका फोड़ा कैसे ठीक हुआ?'

'फोड़ा तो भगवान्ने ठीक कर दिया, बेटा।' श्रीमिश्रजीने धीरे-धीरे अपने सहज विनोदका पुट देते हुए कहा। 'उसकी लीलामें मनुष्यका कोई वश नहीं। मेरी असह्य पीड़ा देखकर व्रजमोहन मुझे वाराणसी अस्पतालमें ले गये। वहाँ डाक्टरने मुझे सुँघनी (क्लोरोफार्म) सुँघाते हुए कहा—'पण्डितजी गिनती गिनिये।'

पू० श्रीमिश्रजी महाराजने आगे कहा—'बेटा! मैं निन्यानबेतक गिन गया, पर मैं बेहोश नहीं हुआ। डाक्टर चकित था। वह सोचता था कि पण्डितजी बेहोश हो जायँ, तब मैं चीर-फाड़ (ऑपरेशन) करूँ; किंतु मुझे उसकी दवासे तनिक भी नशा नहीं हो रहा था। परेशान डाक्टरसे मैंने कहा—'डाक्टर साहब! मैं जीवनभर भंगका बड़ा गोला लेता आया हूँ। मुझपर तुम्हारी इस सुँघनी-फुँघनी (क्लोरोफार्म) का कोई प्रभाव नहीं पड़ेगा। तुम अपने इच्छानुसार चीर-फाड़ करो। मैं न हिलूँ-डोलूँगा और न आह-ऊह करूँगा।'

डाक्टर मेरी बात सुनकर हैरान था। पर वह करता ही क्या? तेज धारकी छुरी ली और लगा मांस काटने, छीलने। बेटा! मैंने उफतक नहीं की।

डाक्टरने जीभर मेरे फोड़ेको काटा, मांस और पीव-मवाद बाहर करके दवा लगायी। फिर पट्टी बाँधकर उसने सूई लगवा दी। मेरा धैर्य देखकर डाक्टरने कहा—'वाह पण्डितजी, वाह! मैंने जीवनमें इतना धीरज रखनेवाला आदमी नहीं देखा।'

'और महीनेभरमें मैं ठीक हो गया।' इतना कहनेके बाद पूज्य श्रीमिश्रजी महाराजका मुख कुछ म्लान हो गया। उन्होंने सिर नीचे किये कहा—'पर बेटा! मेरे ठीक होते ही एक अत्यन्त दुःखद घटना हो गयी; पर सब श्रीभगवान्की लीला है।'

'क्या हुआ, पण्डितजी!' अत्यन्त पीड़ाके क्षणोंमें भी हँसने और हँसानेवाले श्रीमिश्रजीका उतरा हुआ मुँह देखकर मेरे पिताजीने सशङ्क होकर उनसे पूछा।

'मैं अच्छी तरह स्वस्थ भी नहीं हो पाया कि मेरा जवान बेटा व्रजमोहन चला गया।'

'एँ!' पिताजी घबराहटमें पूछने ही जा रहे थे कि पू० श्रीमिश्रजीने कहा—'उसने मेरे शव-दाहके लिये जो लकड़ियाँ एकत्र की थीं, उनसे उसीका दाह-कर्म किया गया। भगवान्की लीला बड़ी अद्भुत है।'

अमित-धैर्य-सम्पन्न, सबको हास्य और आनन्द वितरण करनेवाले वयोवृद्ध श्रीमिश्रजी महाराजसे पिताजी क्या कहते? उनके मुँहसे बरबस निकल गया—'विधिका विधान कितना निष्ठुर है!'

'सामान तो सौ बरसका, कलकी खबर नहीं।'

—कुमारी मीनाक्षी दुबे

(४)

कर्तव्यपरायणता

घटना कुछ वर्षों पूर्वकी है। गोरखपुरमें एक अंग्रेज डाक्टर थे। वे बड़े ही कर्तव्यपरायण थे। कर्तव्यपालनके

सामने वे अपनी तथा अपने परिवारवालोंकी सुख-सुविधाका तनिक भी ध्यान नहीं रखते थे।

डाक्टर साहेबकी पत्नीको प्रसव होनेवाला था। एक दिन प्रसव-वेदना आरम्भ हुई। डाक्टर साहेब घरपर ही थे। इतनेमें अस्पतालसे टेलीफोन आया.........'एक सज्जन बड़ी ही कष्टकी स्थितिमें अस्पताल आये हैं। कृपया शीघ्र पधारकर उनकी चिकित्साकी व्यवस्था करें।'

डाक्टर साहेब टेलीफोन सुनकर तुरंत अपनी पत्नीके पास गये और बोले—'प्रिये! तुम्हारी अवस्था स्वाभाविक है और नर्सें तुम्हारी सेवामें हैं। उधर अस्पतालमें एक गम्भीर रोगी आया है; उसकी अवस्था सांघातिक हो रही है। मेरे लिये उसे सँभालना आवश्यक है। मैं अस्पताल जा रहा हूँ।'

प्रसव-काल नारीके जीवनका विशेष महत्त्वपूर्ण समय होता है। दो प्राणियोंके जीवनका प्रश्न निरन्तर बना रहता है। ऐसे समय परिवारके स्वजन, परिचित व्यक्ति नारीके समीप रहते हैं। डाक्टर साहेबके परिवारमें वे तथा उनकी पत्नी थीं। अतएव पत्नीकी ऐसी स्थितिमें उनका घरपर उपस्थित रहना अनिवार्य था, परंतु दूसरे महत्त्वपूर्ण कर्तव्यके सामने इस कर्तव्यको गौण मानकर वे अस्पताल जानेको तैयार हो गये। उधर पत्नी प्रसव-वेदनाके समय पतिके घरसे बाहर जानेकी बात सुनकर सन्न रह गयीं। वह वेदनासे ही घायल थी, फिर ऐसी संकटकी घड़ीमें पतिका छोड़कर जाना उसे बड़ा ही अरुचिकर हुआ। वह एक भी शब्द न बोल पायी थी कि डाक्टर साहेब अस्पतालके लिये चल दिये।

अस्पताल पहुँचकर उन्होंने देखा कि रोगीका तत्काल ऑपरेशन करना आवश्यक है। वे रोगीको ऑपरेशन-थियेटरमें ले गये। लगभग तीन घंटे उन्हें ऑपरेशन करनेमें लगे। ऑपरेशनका कार्य सम्पन्न करके डाक्टर साहेब घर लौटे; देखा—पत्नीके बच्चा हो गया है। उन्होंने बड़े ही प्यारसे पत्नीसे उसकी अवस्थाके विषयमें पूछ-ताछ की। पत्नी तथा नर्सोंने बताया कि भगवान्‌की कृपासे बच्चा स्वाभाविक रूपमें उत्पन्न हो गया; परंतु पत्नीने यह उपालम्भ दिया—'ऐसे संकटके समय आप मुझे छोड़कर अस्पताल क्यों चले गये?'

डाक्टर साहेबने धीरेसे उत्तर दिया—'तुमसे अधिक उस रोगीको मेरी आवश्यकता थी।'

पत्नी उत्तर सुनकर चुप हो गयी, पर उसके हृदयमें पतिके इस रूखे व्यवहारकी कसक बराबर बनी रही; किंतु कर्तव्यपरायण डाक्टर साहेबपर पत्नीकी इस रुखाईका कुछ भी प्रभाव नहीं था।

(५)

सेवाकी लगन

कुछ दिनों पूर्व एक कन्या-माध्यमिक-विद्यालयकी ओरसे कुछ छात्राएँ प्रवासपर गयी थीं। उस प्रवासमें गये हुए एक शिक्षकने बताया—जब अजमेरके आनासागर तालावको देखकर हमलोग आगे बढ़ रहे थे, तब हमारे मार्गदर्शकने सूचित किया कि वहाँसे समीप ही एक दर्शनीय स्थान है। अतः १२५ छात्राओंके साथ हम छः-सात शिक्षक उस रास्तेपर चल पड़े।

दोपहरका समय था। हमलोग नाश्ता करके निकले थे; अतः कुछ लड़कियोंको प्यास लग गयी थी। मार्गदर्शकने कहा—'थोड़ी ही दूरपर एक प्याऊ है, वहाँ ठंडा जल मिलेगा।' कुछ दूर चलनेपर हमलोग उस प्याऊके पास खड़े हो गये। एक बड़े मकानके सामनेके चबूतरेपर बैठकर एक वृद्ध सज्जन सभीको पानी पिला रहे थे। वृद्ध सज्जनकी उम्र लगभग ६५ वर्ष थी। पानी पीनेवाले लगभग १५० व्यक्ति एक साथ पहुँच जानेपर भी उस वृद्धके चेहरेपर प्रसन्नता झलक रही थी; उसके मुखपर परीशानी या उपेक्षाकी छाया भी नहीं थी। वृद्ध व्यक्तिकी सहायता करनेके लिये हमलोग भी मटकोंमेंसे पानी ले-लेकर पिलाने लगे। वह वृद्ध कुएँसे पानी ला-लाकर मटकोंमें डालने लगा। सब लोगोंने पूर्ण तृप्तिके साथ पानी पी लिया। मेरे मनमें आया कि इस बूढ़ेको कुछ इनाम देना चाहिये और मैंने एक रुपया निकालकर बूढ़ेकी ओर बढ़ाया। बूढ़ेने मेरे सामने हाथ जोड़ दिये और रुपया लेना अस्वीकार कर दिया। मैंने समझा—बूढ़ेको एक रुपया कम लगता होगा; मैं एक-दो रुपया और निकालनेवाला था कि वह वृद्ध मेरे चरणोंपर गिरकर नमस्कार करने लगा। वृद्धको कुछ भी कहनेका मेरा साहस समाप्त हो गया; परंतु मैंने रुपया वहीं रख दिया और हमलोग आगे चल दिये।

आगे चलनेपर अजमेरी गेट आया। उसके पास कोयलेकी एक बड़ी बखार थी। मार्गदर्शकने बखारकी ओर संकेत करते हुए कहा—'देखिये साहब, कोयलेकी यह बड़ी बखार है। सारे शहरके दूकानदार यहींसे कोयला खरीद करके बेचते हैं।'

'हमलोग कोयलेकी बखार देखनेको नहीं निकले हैं'—एक शिक्षकने हँसते हुए कहा। मार्गदर्शकने तुरंत उत्तर दिया—'यह बखार दिखानेका मेरा हेतु दूसरा है, साहब! हमलोगोंने अभी जिसके हाथका पानी पिया था, उसी वृद्धकी यह कोयलेकी बखार है।' हमलोग आश्चर्यचकित होकर बखार देखने लगे। सचमुच कोयलेका अम्बार लगा हुआ था। मैंने पूछा—'इतनी बड़ी बखारका मालिक प्याऊमें पानी पिलाता है?'

'हाँ, साहब!' मार्गदर्शक बोला। 'उस वृद्ध महाशयके चार पुत्र यही व्यापार चलाते हैं तथा उसके चार बँगले इसी शहरमें हैं। वृद्धावस्था हो जानेसे उसने व्यापारका काम देखना छोड़ दिया है। निवृत्तिकी अवस्थामें उसको सेवाकी धुन लगी है। वह दिनभर इसी लगनसे अपने ही हाथोंसे सबको पानी पिलाता रहता है।'

पानी पिलानेवाले वृद्ध महाशयका ऐसा परिचय प्राप्तकर हमलोग अवाक् रह गये। हमारे मनोंमें यह विचार उत्पन्न हुआ—इतने बड़े सेवाभावी वृद्ध सज्जनके सामने एक रुपया फेंककर हमलोगोंने सचमुच उनकी सेवावृत्तिका अपमान ही किया था। 'जन-कल्याण' —बहादुरशाह पण्डित

(६)

जब स्वयं भगवान्‌ने ड्यूटी दी

'अरे गजब हो गया'—भक्त रामकृष्णदास घबराकर सहसा बोले।

'क्या हुआ, भाई!'—कई भक्तोंने एक साथ पूछा।

'इस रातको तो मेरी ड्यूटी थी पुलिस लाइनमें। मैं तो बिल्कुल भूल ही गया।' वे कुछ घबराकर बोले।

रामायणके अनन्य प्रेमी भक्त, कांस्टेबल रामकृष्णदास, मानसपारायणमें कुछ ऐसे तल्लीन हो गये कि उन्हें उस रातको ड्यूटीपर जानेका स्मरण ही नहीं रहा। वे आत्म-विस्मृत हो गये थे। भक्तोंने सहानुभूति प्रकट की। शीघ्रतासे उन्होंने वर्दी पहनी, पेटी लगायी और लपकते हुए पहुँचे पुलिस लाइन।

'माफ करिये, साहब!'—सिपाही रामकृष्णने अंग्रेज पुलिस सुपरिंटेंडेंटको सलाम करके गिड़गिड़ाते हुए कहा—'मैं कल रात ड्यूटीपर हाजिर नहीं हो सका।'

'वेल मैन!'—साहब आश्चर्य-मुद्रासे बोला—'क्या बोलटा टुम! क्या टुम नशा करटा है? टुम हाजिर था नाइट में, टो ऐसा माफिक क्यों बोलटा? रजिस्टरमें तुम्हारा साइन है।'

आश्चर्यसे अवाक् कांस्टेबल रामकृष्णने साहबकी बात सुनी। साहबने मेजपर रखी घंटी बजायी, अर्दली हाजिर हुआ। हाजिरी रजिस्टर लानेका आदेश हुआ उसे। रजिस्टर आया। साहबने उन्हें खोलकर दिखाया—'डेखो मैन! इढर टुमारा डसखट।'

'आँखें फाड़कर देखा रामकृष्णने, उन्हींके हस्ताक्षर हैं। किसने किये हूबहू मेरे-जैसे दस्तखत! और कौन आया मेरी ड्यूटीपर? भावनाओंका झंझावात हृदयको झकझोरने लगा। एक बार, दो बार, कई बार देखे उन्होंने वे हस्ताक्षर। और तब सहसा उनके अन्तःपटपर बिजली-सी कौंध गयी। धनुर्बाणधारी, भक्त-भयहारी, भगवान् श्रीराघवेन्द्रकी मुनिमन-हारी छवि मुस्करा उठी उनके हृदय-सिंहासनपर। 'तुम्हीं थे, मेरे सरकार! रातमें इस अधम जनकी ड्यूटी बजानेवाले।'—आवरण हट गया और साथ ही प्रेमका बाँध टूट पड़ा। आँसुओंकी वेगमयी धारा प्रवाहित हो चली। अंग्रेज अवाक् होकर इस पागल सिपाहीको देखने लगा। 'टुम क्यों रोटा है?'—वह कहता ही रहा और ये लौट पड़े उसी क्षण। 'हाय! मेरे प्रभुको इस अधम जनके लिये रातभर ड्यूटी देनी पड़ी।'

पुलिसकी वर्दी-पेटी आदि, किसीके द्वारा वापस कर दी भक्तराज रामकृष्णदासने और अपने त्याग-पत्रमें लिख दिया—'जिसने मेरी ड्यूटी पूरी की, अब मैं उसीकी ड्यूटी पूरी करने जा रहा हूँ, उसीकी खोजमें'''और वे चले गये उसी रातको श्रीअयोध्यापुरी, अपने सरकार श्रीरामका सामीप्य प्राप्त करने।

यह घटना कोई कल्पित कहानी नहीं है। लगभग आधी शताब्दी पूर्व हमारे नगर शाहजहाँपुर (उत्तर प्रदेश) में यह अविस्मरणीय घटना घटित हुई थी। नौकरी छोड़कर परम भागवत रामकृष्णदास श्रीअयोध्यापुरी पहुँचे। साधकसे सिद्ध बनकर अन्तिम दिनोंमें उन्होंने शाहजहाँपुरको पवित्र किया था। आज भी इस नगरके मुहल्ला सराय काइयाँमें उनकी समाधि विद्यमान है और आज भी ऐसे एकाध वृद्ध जन हैं इस नगरमें, जिन्हें उन भक्तप्रवरके दर्शनोंका सौभाग्य प्राप्त हुआ था।

—कालीचरण दीक्षित 'कवीश'

परमश्रद्धेय श्रीहनुमानप्रसादजी पोद्दारका व्यवहार एवं परमार्थमें सहायक अनमोल साहित्य

निबन्ध-संग्रह

	मूल्य
१–भगवच्चर्चा–भाग १ (तुलसीदल)	.६०
२–भगवच्चर्चा–भाग २ (नैवेद्य)	.६०
३–भगवच्चर्चा–भाग ३	.९०
४–भगवच्चर्चा–भाग ४	.९५
५–भगवच्चर्चा–भाग ५	.९०
६–भगवच्चर्चा–भाग ६ (पूर्ण समर्पण)	.९०
७–भवरोगकी रामवाण दवा	.३५
८–श्रीराधामाधव-चिन्तन	५.००
९–श्रीराधामाधव-चिन्तन-परिशिष्ट	२.००

पत्र-संग्रह

(साधना एवं व्यवहारके सम्बन्धमें पत्ररूपमें दिये गये निर्देश)

१०–लोक-परलोकका सुधार–भाग १	.४५
११–लोक-परलोकका सुधार–भाग २	.४५
१२–लोक-परलोकका सुधार–भाग ३	.६०
१३–लोक-परलोकका सुधार–भाग ४	.६०
१४–लोक-परलोकका सुधार–भाग ५	.६०

पद-संग्रह

(खड़ी बोली, व्रजभाषा एवं राजस्थानीके पदोंका संग्रह)

१५–पत्र-पुष्प (भजन-संग्रह भाग ५)	.१५
१६–प्रार्थना-पीयूष	.१५
१७–हरिप्रेरित हृदयकी वाणी	१.४०
१८–श्रीराधामाधव-रस-सुधा (खड़ी बोलीके अनुवादसहित)	.३०
१९–श्रीराधामाधव-रस-सुधा (व्रजभाषाके अनुवादसहित)	.२०
२०–श्रीराधामाधव-रस-सुधा (केवल मूल)	.१०
२१–व्रजरस-माधुरी	.७०
२२–व्रजरसकी लहरें	१.७०
२३–मधुर–भाग १ (झाँकी सं०-४०)	.६५
२४–मधुर–भाग २ (झाँकी सं०-३३)	.६०
२५–शिव-चालीसा	.०८

समाज-निर्माणात्मक साहित्य

२६–हिंदू-संस्कृतिका स्वरूप	.०८
२७–सिनेमा—मनोरञ्जन या विनाशका साधन	.०८
२८–विवाहमें दहेज	.०४
२९–नारी-शिक्षा	.४५
३०–स्त्री-धर्म-प्रश्नोत्तरी	.१२
३१–वर्तमान शिक्षा	.१२
३२–गोवध—भारतका कलङ्क	.०४
३३–बलपूर्वक देवमन्दिर-प्रवेश और भक्ति	.०४

साधना-साहित्य

३४–मानव-धर्म	.२५
३५–साधन-पथ	.२०
३६–श्रीराधा-जन्माष्टमी-व्रत-महोत्सवकी प्राचीनता, महिमा और पूजाविधि	.३०
३७–मनको वशमें करनेके कुछ उपाय	.१०
३८–श्रीभगवन्नाम	.०८
३९–दिव्य संदेश	.०३
४०–गीतामें विश्वरूप-दर्शन	.०८
४१–ब्रह्मचर्य	.०८
४२–सत्सङ्गके बिखरे मोती	.९०
४३–मनुष्य सर्वप्रिय और सफल-जीवन कैसे बने ?	.०७
४४–जीवनमें उतारनेकी सोलह बातें	.०३
४५–कल्याणकारी आचरण	.१५
४६–प्रार्थना	.२५
४७–गोपी-प्रेम	.१२
४८–रस और भाव	.१५

उद्बोधक साहित्य

(जीवनमें आशा, उत्साह, स्फूर्ति प्रदान करनेवाला साहित्य)

४९–कल्याण-कुञ्ज भाग १	.३०
५०–कल्याण-कुञ्ज भाग २	.३५
५१–कल्याण-कुञ्ज भाग ३	.४५
५२–मानव-कल्याणके साधन (कल्याण-कुञ्ज भाग ४)	१.००
५३–दिव्य सुखकी सरिता (कल्याण-कुञ्ज भाग ५)	.५०
५४–सफलताके शिखरकी सीढ़ियाँ (कल्याण-कुञ्ज भाग ६)	.६२
५५–दैनिक कल्याण-सूत्र	.२५
५६–आनन्दकी लहरें	.८
५७–दीन-दुःखियोंके प्रति कर्तव्य	.८

भक्त-गाथा-साहित्य

५८–उपनिषदोंके चौदह रत्न	.४५

टीका-साहित्य

५९–प्रेम-दर्शन (श्रीनारदभक्तिसूत्रोंकी हिंदी व्याख्या)	.३५

विशेष जानकारीके लिये सूचीपत्र मँगाइये ।

व्यवस्थापक—गीताप्रेस, पो० गीताप्रेस (गोरखपुर)

रजि० सं० एल्० १७५

'नमः शिवाय' मन्त्रकी वन्दना

नागेन्द्रहाराय त्रिलोचनाय भस्माङ्गरागाय महेश्वराय।
नित्याय शुद्धाय दिगम्बराय तस्मै 'न'काराय नमः शिवाय॥
मन्दाकिनीसलिलचन्दनचर्चिताय नन्दीश्वरप्रमथनाथमहेश्वराय।
मन्दारपुष्पबहुपुष्पसुपूजिताय तस्मै 'म'काराय नमः शिवाय॥
शिवाय गौरीवदनाब्जवृन्दसूर्याय दक्षाध्वरनाशकाय।
श्रीनीलकण्ठाय वृषध्वजाय तस्मै 'शि'काराय नमः शिवाय॥
वसिष्ठकुम्भोद्भवगौतमार्यमुनीन्द्रदेवार्चितशेखराय।
चन्द्रार्कवैश्वानरलोचनाय तस्मै 'व'काराय नमः शिवाय॥
यक्षस्वरूपाय जटाधराय पिनाकहस्ताय सनातनाय।
दिव्याय देवाय दिगम्बराय तस्मै 'य'काराय नमः शिवाय॥
पञ्चाक्षरमिदं पुण्यं यः पठेच्छिवसंनिधौ।
शिवलोकमवाप्नोति शिवेन सह मोदते॥

(श्रीशंकराचार्य)

जिनके कण्ठमें साँपोंका हार है, जिनके तीन नेत्र हैं, भस्म ही जिनका अङ्गराग (अनुलेपन) है, दिशाएँ ही जिनका वस्त्र हैं (अर्थात् जो वस्त्रहीन हैं), उन शुद्ध अविनाशी महेश्वर 'न'कारस्वरूप शिवको नमस्कार है। गङ्गाजल और चन्दनसे जिनकी अर्चा हुई है, मन्दार-पुष्प तथा अन्यान्य कुसुमोंसे जिनकी सुन्दर पूजा हुई है, उन नन्दीके अधिपति, प्रमथ-गणोंके स्वामी महेश्वर 'म'कारस्वरूप शिवको नमस्कार है। जो कल्याणस्वरूप हैं, पार्वतीजीके मुख-कमलको विकसित (प्रसन्न) करनेके लिये जो सूर्यस्वरूप हैं, जो दक्षके यज्ञका नाश करनेवाले हैं, जिनकी ध्वजामें बैलका चिह्न है, उन शोभाशाली नीलकण्ठ 'शि'कारस्वरूप शिवको नमस्कार है। वसिष्ठ, अगस्त्य और गौतम आदि श्रेष्ठ मुनियोंने तथा इन्द्र आदि देवताओंने जिनके मस्तककी पूजा की है, चन्द्रमा, सूर्य और अग्नि जिनके नेत्र हैं, उन 'व'-कारस्वरूप शिवको नमस्कार है। जिन्होंने यक्षरूप धारण किया है, जो जटाधारी हैं, जिनके हाथमें पिनाक है, जो दिव्य सनातन पुरुष हैं, उन दिगम्बर देव 'य'कारस्वरूप शिवको नमस्कार है।

जो शिवके समीप इस पवित्र पञ्चाक्षरका पाठ करता है, वह शिवलोकको प्राप्त करता और वहाँ शिवजीके साथ आनन्दित होता है।